कर्म सिद्धांत

और उसके वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आयाम

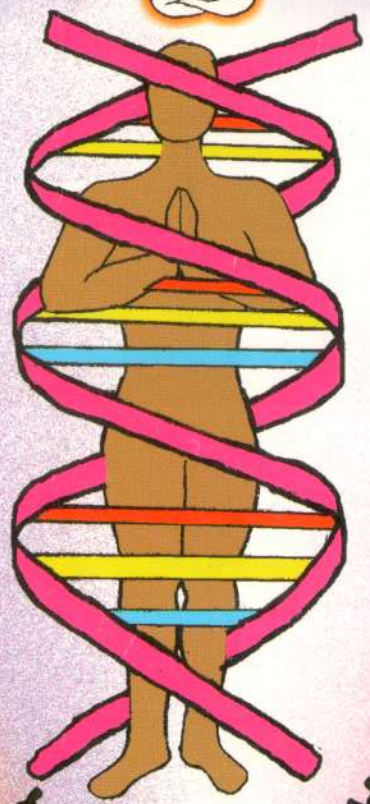

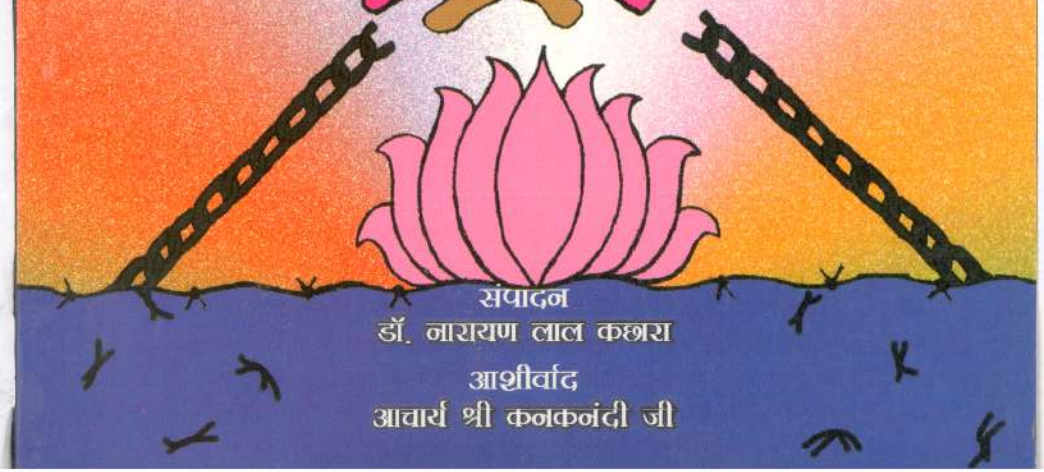

संपादन
डॉ. नारायण लाल कछारा

आशीर्वाद
आचार्य श्री कनकनंदी जी

षष्ठम् अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी का उद्घाटन सत्र–(बायें से) आचार्य श्री कनकनंदीजी, डॉ. बी.एल. चौधरी (कुलपति सु.वि.), डॉ. शेखर चन्द्र जैन, डॉ. चिरंजीलाल बगड़ा, डॉ. नारायण लाल कछारा, श्री सुशील कुमार जैन, श्री राजेन्द्र धाकड़।

षष्ठम् अंतराष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी– धर्म सभा।

आचार्य कनकनंदी साहित्य विक्रय केन्द्र C/o श्री छोटूलाल चित्तौड़ा, दि. जैन मंदिर, बस स्टाप आयड़, उदयपुर–313 003

कर्म सिद्धान्त
और उसके वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आयाम

(षष्ठम् अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी
26–29 दिसम्बर 2004 उदयपुर
में प्रस्तुत शोध पत्र)

संपादन
डा0 नारायण लाल कछारा
आशीर्वाद
आचार्य श्री कनकनंदी जी

प्रकाशक
धर्म दर्शन सेवा संस्थान
55, रवीन्द्र नगर,
उदयपुर – 313003

कर्म सिद्धान्त
और उसके वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आयाम

(षष्ठम् अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी
26–29 दिसम्बर 2004 उदयपुर में प्रस्तुत शोध पत्र)

संपादनः डा0 नारायण लाल कछारा
आशीर्वादः आचार्य श्री कनकनंदी जी

- **प्रथम संस्करण**
  अप्रेल 2005, 1000 प्रतियाँ

- **प्रकाशक**
  धर्म दर्शन सेवा संस्थान
  55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर 313003

- **मूल्यः रू 60/–**

- **प्राप्ति स्थानः**
  धर्म दर्शन सेवा संस्थान
  c/o श्री छोटू लाल चितौड़ा, चंद्रप्रभु दि. जैन मंदिर,
  बस स्टॉप, आयड़, उदयपुर 313003 (राज0)

- **कम्पोजिंगः विनायक ग्राफिक्स, उदयपुर**
- **मुद्रकः जैन प्रिन्टर्स, एसोमेट ऑफिस काम्पलेक्स,**
  ब्लाक–B, निकट अलका होटल, शास्त्री सर्कल, उदयपुर313003

प्रकाशकीय

भारतीय वाङ्मय ज्ञान का अपूर्व स्रोत है। इनमें अरिहंतों, ऋषियों, मुनियों और आचार्यों द्वारा अनुभूत सत्यरूपी ज्ञान की गंगा प्रवाहित हो रही है। अंतःप्रेरणा से प्राप्त यह शाश्वत ज्ञान कालातीत है और सदैव लोक में जिज्ञासुओं का मार्ग प्रशस्त करता रहा है। आज के वैज्ञानिक युग में भी यह ज्ञान की धारा उतनी ही प्रासंगिक है और वर्तमान में कई ज्वलन्त समस्याओं का समाधान प्राप्त करने की सामर्थ्य रखती है। परमपूज्य आचार्य श्री कनकनंदी जी गुरूदेव का यह प्रयास रहा है कि भारत के इस अमूल्य ज्ञान को सर्वजन को सुलभ कराया जाय जिससे कि उनका जीवन आलोकित हो और वे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त करें। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आचार्य श्री कई दिशाओं में प्रयत्नशील हैं, उनमें से संगोष्ठी का आयोजन एक सशक्त माध्यम सिद्ध हुआ है।

आचार्य श्री की प्रेरणा और मार्गदर्शन में धर्म दर्शन सेवा संस्थान उदयपुर और धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान, बड़ौत द्वारा षष्ठम् वैज्ञानिक संगोष्ठी 26–29 दिसम्बर 2004 को उदयपुर में आयोजित की गई। संगोष्ठी का विषय "कर्म सिद्धान्त और उसके वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आयाम" था। संगोष्ठी के लिए भारत के विभिन्न प्रांतो से 50 विद्वानों के शोध पत्र प्राप्त हुए। इनमें से 34 लेखकों द्वारा अपने शोध–पत्र संगोष्ठी में प्रस्तुत किए गये। सभी शोध पत्र विषय वस्तु की दृष्टि से उच्च स्तर के थे और कर्म सिद्धान्त के विभिन्न आयामों पर विशेष सामग्री लिए हुए थे।

हमारे संस्थान द्वारा यह निर्णय लिया गया कि शोध पत्रों के रूप में प्राप्त इस सारगर्भित साहित्य को प्रकाशित कर पाठकों तक पहुँचाया जाय। प्रकाशन व्यय और पुस्तक मूल्य को ध्यान में रखते हुए चयनित लेखों को ही प्रकाशित करना ठीक समझा गया। इस हेतु शोध पत्रों का चयन एक दुष्कर कार्य रहा। परम पूज्य गुरूदेव की सहायता से ही यह कार्य सम्भव हो सका।

आचार्य श्री ने अपने अन्तरंग भाव और प्रगतिशील विचार संगोष्ठी में विभिन्न अवसरों पर प्रकट किए, विशेष तौर पर सामूहिक चर्चा के अवसर पर उनके उद्‌गार, उनकी पीड़ा और अपेक्षाओं की भावभीनी अभिव्यक्त थे। पाठको के लाभार्थ इन सबका संकलन इस पुस्तक में प्रकाशित किया जा रहा है। सभी को झकझोरने वाले ये विचार पाठकों को राष्ट्रीय गौरव और उज्ज्वल व्यक्तित्व की प्रेरणा प्रदान करते रहेंगें, ऐसा विश्वास है। संगोष्ठी की सम्पूर्ण जानकारी के लिए एक रिपोर्ट भी

प्रकाशित की जा रही है।

आचार्य श्री की उद्घोषणा के अनुसार सातवीं संगोष्ठी उनके द्वारा रचित दो नवीन ग्रंथों पर आधारित होगी। ज्ञान धारा के रूप में रचित इन दो ग्रंथों यथा– 1) "ब्रह्माण्डीय जैविक, भौतिक एवं रसायन विज्ञान" और 2) "अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा" पर प्रोफेसर जगमोहन हुम्मड़ का अभिमत भी प्रकाशित है।

आशा है यह पुस्तक कर्म सिद्धान्त और उसकी उपयोगिता विषय के जिज्ञासुओं का प्रकाश स्तम्भ की तरह मार्ग प्रशस्त करेगी और आचार्य श्री की भावना के अनुरूप विश्व में प्रेम और शांति स्थापित करने में सहायक होगी।

डॉ. नारायण लाल कछारा
सचिव, धर्मदर्शन सेवा संस्थान

प्रकाश चन्द्र जैन
बी.एस.सी., एच.एम.बी.एस.
एम.ए.(अंग्रेजी, हिन्दी)
मंत्री अ.भा.जै. जैन महासभा
फिरोजाबाद

दि. 29/12/04

परमपूज्य आचार्य कनकनन्दी जी की षष्ठम् अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी एवं ग्रन्थ विमोचन समारोह दि. 26 दिसम्बर से 29 दिसम्बर 2004 में सुनने का सौभाग्य पहली बार मिला। एक विज्ञान का विद्यार्थी होने के नाते मुझे भी कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता का ज्ञान हुआ। यहाँ की मुख्य विशेषता जो मुझे सबसे प्रिय लगी वह यह कि सभी पन्थों की एकरूपता और सामजस्य पहली बार देखने का सौभाग्य मिला। सभी को एक मंच पर दिगम्बर, श्वेताम्बर, तेरापंथी, बीस पंथी आदि–आदि को देखा तथा सभी सम्प्रदायों का हिन्दू, वैदिक, जैन आदि सभी को बिना किसी भेदभाव के पाया। सभी विद्वानों ने बड़े मनोयोग से अपने लेखों को उद्घोषित किया।

आ. कनकनन्दी जी एवं आ. कुशाग्रनन्दी जी एवं प्रज्ञा समणियों का ससंग प्राप्त हुआ। मैं यहाँ के सयोजकों एवं समाज का भी आभारी हूँ जिन्होंने इतनी अच्छी व्यवस्था की।

प्रकाश चन्द्र जैन

प्राचीन भारतीय वाङ्मय के शोध-बोध, प्रचार-प्रसार तथा प्रायोगिक करण से विश्व में शांति संभव

षष्टम् अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी के सामूहिक चर्चा सत्र में आचार्य श्री कनकनंदी जी का उद्‌बोधन।

आचार्य श्री कनकनंदी गुरूदेव ने कहा कि एक भिखारी ने एक जगह जीवन भर बैठकर भीख माँग कर जीवन यापन किया। उसके मरने के बाद उस जमीन को खोदने के बाद वहाँ अपार सम्पत्ति प्राप्त हुई। वह भिखारी अपनी अज्ञानता तथा अकर्मण्यता के कारण सम्पत्ति के ऊपर बैठकर भी भीख माँगता रहा, उसी प्रकार प्रत्येक जीव में अनन्त वैभव होने पर भी कर्म के कारण यह वैभव स्वयं में ही सुप्तरूप में रह जाता है। जब जीव स्व-शुद्ध स्वरूप का तथा कर्म स्वरूप का ज्ञान करके पुरूषार्थ करेगा तब वह अनन्त वैभव सम्पन्न "सच्चिदानंद" "सत्यं शिवं सुन्दरम्" बन जायेगा। इसी प्रकार हमारे पूर्वज महा आध्यात्मिक वैज्ञानिकों ने जो सत्य ज्ञान के विभिन्न विधाओ का शोध-बोध किया तथा कुछ लिपिबद्ध किया ऐसे प्राचीन वाड्.मय में जो ज्ञान-विज्ञान है, उससे अधिकांश भारतीय वंचित हैं। वर्तमान में भी कर्म के ऊपर वैज्ञानिकों ने जो शोध-बोध आविष्कार किया है वह भी बहुत महत्वपूर्ण है। यह शोध भी कर्म सिद्धान्त की ओर गतिशील है। आधुनिक जिनोम, D.N.A., R.N.A., क्रोमोसोम्स आदि के साथ-साथ वैज्ञानिकों ने अभी-अभी खोज किया है कि कुछ जीवों के अन्दर गॉड जीन हैं। इन जीनों से ही व्यक्ति में धर्म, ईश्वर के प्रति श्रद्धा होती है। जैनधर्मानुसार पुण्य प्रकृति, तीर्थंकर प्रकृति, सम्यक्त्व प्रकृति का काम भी धर्म के प्रति रूचि पैदा करना है।

प्राचीन भारत को विश्वगुरू इसलिए कहा जाता था क्योंकि भारतीय महापुरूषों ने महान् आध्यात्मिक विज्ञान के साथ-साथ समस्त लौकिक ज्ञान-विज्ञान-दर्शन-कला-गणित आदि का भी शोध-बोध किया था। परन्तु काल क्रम से उन महान् उपलब्धियों का भारतीयों ने सदुपयोग नहीं किया तथा वे परस्पर के असंगठन और कलह के कारण दीर्घ काल तक विभिन्न विदेशी बर्बर, लुटेरे, आक्रांताओं के आक्रमण, शोषण, विध्वंस, अधीन, दबाव में रहे। इससे भी हमारे अनेक ज्ञान-विज्ञान के साहित्य, स्रोत नष्ट हुए। अभी स्वतंत्रता के 58 वर्ष बाद भी भारत में पराधीनता के लक्षण सर्वत्र दिखाई दे रहे हैं। विदेशी अच्छाइयों को तो हमें स्वीकार करना चाहिए परन्तु अकल बिना नकल नहीं करना चाहिए। वैज्ञानिक अनुसंधान के

कारण विदेश के प्रबुद्ध लोग तो हमारी सभ्यता, संस्कृति, आध्यात्मिकता, ध्यान-योग, आयुर्वेद, भोजन, प्राकृतिक प्रसाधन, वस्त्र, भाषा, संगीत आदि को तीव्रता से अधिक से अधिक स्वीकार करते जा रहे हैं और अपनी अवैज्ञानिक, छोटी-खोटी-हल्की सभ्यता आदि का त्याग करते जा रहे हैं। जो वे त्याग करते जा रहे हैं उस झूठन को भारतीय लोग स्वीकार करते हुए स्वयं को आधुनिक, बोल्ड, प्रगतिशील मानकर गर्व अनुभव कर रहे हैं। जापान समुद्र के बीच अनेक टापू स्वरूप एक छोटा सा देश होते हुए भी तथा खनिज द्रव्य भारत आदि अन्य देशों से मंगाता हुआ भी आज सबसे समृद्ध आधुनिक देश है, क्योंकि जापानी अपनी सभ्यता, संस्कृति, भाषा आदि से प्यार करते हैं, जीवन में अपनाते हैं। इसके साथ-साथ उनमें राष्ट्रीयता, कर्त्तव्यशीलता कूट-कूट कर भरी है। भारत में एक-दो अक्षर पढ़ने के बाद, एक-दो पैसा कमाने के बाद या नगर में रहने से ही लोग स्वयं को श्रेष्ठ-जेष्ठ, आधुनिक एवं ज्ञानवान मान लेते हैं और अपनी संस्कृति तथा ज्ञान-विज्ञान से दूर हो जाते हैं। जो वृक्ष अपनी जड़ से कट जायेगा वह वृक्ष कभी भी जीवित, समृद्ध नहीं हो सकता है। जो पतंग अपनी डोर से कट जाता है वह ऊपर कभी भी उड़ नहीं सकता है। इसी प्रकार वर्तमान में भारतीयों की दुर्दशा, पिछड़ेपन का जो मूल कारण है वह अपनी संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, भाषा आदि से कट जाना है।

वस्तुतः रेडियो का शोध-बोध भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु ने किया था परंतु इसका प्रचार-प्रसार मारकोनी के नाम पर हुआ। इसी प्रकार अनेक ज्ञान-विज्ञान का आविष्कार जो भारत में हुआ था उसे भारतीयों की अकर्मण्यता, विदेशियों की सजगता, व्यापारिक कुशलता आदि के कारण आज अधिकांश लोग जानते-मानते हैं कि उनका शोध-बोध विदेश में हुआ है।

ईसा पूर्व में ही चरक, सुश्रुत, आचार्य पूज्यपाद, नागार्जुन, उग्रादित्य आदि ने आयुर्वेद (चिकित्सा विज्ञान) का शोध-बोध एवं लिपिबद्ध किया था परंतु इसका श्रेय हिपोक्रेटिस को दिया जाता है। विश्व मानता है कि गणित, दशमलव पद्धति, पाई, जीरो अदि का आविष्कार भारत में हुआ है। यह जीरो देने वाला भारत आज जीरो है। यानि उपलब्धि शून्य है। क्योंकि "घरका योगी योगिन्ना अन्य देश का सिद्ध" "घर की मुर्गी दाल बराबर" के अनुसार भारत के लोग अपनी उपलब्धियों को महत्व नहीं देते हैं। वे उसे सरलता से स्वीकार नहीं करते जब तक कि विदेशी उसे स्वीकार नहीं कर लेते हैं। जैसे कि ध्यान-योगासन को भारत के लोग ढोंग, आलसियों का काम, बकध्यान, बेकार का काम मानते थे परंतु विदेशी जब योग को ही योगा रूप में स्वीकार करने लगे तब भारतीय उनका अन्धानुकरण करते हुए फिर से उसको

स्वीकार कर रहे हैं। हल्दी, मेहंदी, मुलतानी मिट्टी, शिकाकाई आदि सौन्दर्य साधनों को विदेशी जब हर्बल नाम से प्रयोग करने लगे तब भारतीय भी उसको स्वीकार कर रहे हैं। विदेशों में हल्दी–नीम आदि का पेटेन्ट हो जाने के बाद भारतीय आँख मलते हुए अंगडाई ले रहे हैं। अणु सिद्धान्त का व्यापक सूक्ष्म गणितीय वर्णन जैन धर्म में है तथा आंशिक वर्णन कणाद ने भी किया है परंतु भारतीय लोग परम्परा से शास्त्र से उसका कुछ तोता रटन्त करते रहे किन्तु प्रायोगीकरण नहीं कर पाये। पर रदरफोर्ड, डाल्टन, एडीसन आदि ने उसकी शक्ति को पहिचानकर उसक प्रयोगीकरण करके रात को भी दिन में परिवर्तित करने में समर्थ हो गये हैं। विश्व के सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त सापेक्ष सिद्धान्त (अनेकान्त–स्याद्वाद) का भारतीयों ने और अन्य दार्शनिकों ने शायदवाद, संशयवाद, अनिश्चितवाद मानकर विरोध किया तथा जैन धर्मावलम्बी भी जिस अनेकान्त सिद्धान्त से विश्व की अनेक समस्याओं का समाधान हो जाता है, उस सिद्धान्त को लेकर संकीर्णता में पंथवादी, मतवादी बनकर पहले लड़े, विभिन्न पंथों का निर्माण किया और अभी भी लड़ रहे हैं। महान् वैज्ञानिक, चिंतक, अहिंसा प्रेमी आइन्स्टीन ने इसको वैज्ञानिक परिप्रेक्ष में प्रस्तुत करके विज्ञान से लेकर विश्व तक के लिए एक नई दिशा–दशा–आशा का संचार किया है। आइन्स्टीन ने यह भी सिद्ध किया कि ऊर्जा, कण, वस्तु आदि का सर्वथा अभाव नहीं होता है। ऊर्जा द्रव्य में एवं द्रव्य ऊर्जा में परिवर्तित हो जाता है। उन्होंने $E=Mc^2$ रूप एक महान् गाणितीय सूत्र दिया, इससे ही एटमबम का आविष्कार हुआ। जैनधर्म के तत्त्वार्थ सूत्र, राजवार्तिक, धवल–जयधवल आदि ग्रंथों में इसका विशद वर्णन हैं। महाभारत, रामायण तथा जैन ग्रंथों में ब्रह्मास्त्र का जो वर्णन है उसकी तुलना वर्तमान के एटमबम आदि से कर सकते हैं।

जैन धर्म में वर्णित कालनिधि का वर्णन वर्तमान में कम्प्यूटर से मेल खाता है। वर्तमान का जो क्लोनिंग सिद्धान्त है उसका प्रकारान्तर में वर्णन महाभारत में पाया जाता हैं। इस पद्धति से महर्षि व्यास ने दुर्योधन आदि 100 कौरवों का जन्म कराया था। पुष्पक विमान का वर्णन वाल्मीकि रामायाण, पद्मपुराण (जैन रामायण), सत्यंधर चरित्र, छत्रचूडामणि, यशोधरचंपू आदि में पाया जाता है। फोन, टी.वी. आदि का वर्णन जैन शास्त्रों के साथ–साथ महाभारत में भी पाया जाता है जैसा कि विदुर ने दूर बैठकर धृतराष्ट्र को महाभारत युद्ध की संपूर्ण सूचनायें दी थी।

लोकतंत्र का उद्भव, प्रचार–प्रसार पाश्चात्य जगत् में हुआ और उसके प्रचारक रूसो, एजिंलो, कार्लमार्क्स, अब्राहिम लिंकन, लेनिन आदि को मानते हैं परंतु प्रायः 5128 वर्ष पहले राजा अग्रसेन ने आग्रेयगण की स्थापना की थी और लोकतंत्र

के अनुसार वहाँ शासन व्यवस्था चलती थी। इसी प्रकार भगवान् महावीर का जन्म लोकतंत्र में हुआ था। लिच्छवि आदि गण थे, चेटक उसके राष्ट्राध्यक्ष थे। महाभारत में तो विस्तार से लोकतंत्र का स्वरूप, उसकी विकृति और विकृतियों को दूर करने के उपाय वर्णित हैं। इसी प्रकार अर्थशास्त्र का वर्णन चाणक्य ने विस्तार से किया जिसको अर्थशास्त्रम् कहते हैं। सोमदेवसूरी ने नीति वाक्यामृतम् में अर्थशास्त्र के साथ–साथ राजनीति शास्त्र का भी वर्णन किया है। इसी प्रकार चाणक्य ने तथा महाभारत में वेद व्यास ने अर्थशास्त्र एवं राजनीति का विस्तृत वर्णन किया है। परंतु वर्तमान में मार्शल एवं रॉबिन्स को अर्थशास्त्र का जनक मानते हैं तथा राजनीति, कानून के प्रणेता सुकरात आदि को मानते हैं। तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित अपरिग्रहवाद ही यथार्थ से अहिंसक समाजवाद है। जब अहिंसात्मक समाजवाद को पूंजीपति, शोषक वर्ग ने स्वीकार नहीं किया तब कार्लमार्क्स आदि ने हिंसात्मक पद्धति से इसका प्रचार–प्रसार किया। वर्तमान का वैश्वीकरण कोई नवीन विषय नहीं हैं। "वसुधैव स्वकुटुंबकम्", "परस्परोपग्रहो जीवानाम्", "जीओ और जीने दो" आदि प्राचीन भारतीय सिद्धान्त आधुनिक वैश्वीकरण/विश्वबन्धुत्व, संयुक्त राष्ट्रसंघ आदि के नियमों से भी अधिक व्यापक, उदार एवं समतापूर्ण है। परंतु दुःख का विषय यह है कि ऐसे महानतम् सिद्धांतों का आविष्कारक भारत आज किसी भी दृष्टि से स्वयं को श्रेष्ठ स्थापित नहीं कर पा रहा है, प्रस्तुतीकरण नहीं कर पा रहा है। कृषि प्रधान, ऋषि प्रधान संस्कृति वाले भारत ने आज मत्स्यपालन आदि को कृषि में गर्भित कर लिया है। गौ को माता माना जाता है और राष्ट्रीय चिन्ह में जो बैल आदि का प्रतीक है उसका अपमान दंडनीय है। किंतु देश की सरकार ही साक्षात् उपकारी निरपराधी गाय, भैंस पशुओं आदि का सामूहिक संहार कर रही है। यह भारत जैसे सांस्कृतिक देश के लिए कलंक है। जिस महान् भारत के सपूतों ने देश–विदेशो में शील, संस्कारों का प्रचार–प्रसार किया था, जिसके लिए स्वयं सम्राट अशोक की पुत्री संघमित्रा तथा पुत्र महेन्द्र विदेश में गये थे आज उस देश की पढी–लिखी आधुनिक लड़कियाँ (लड़के भी) विदेश में शील बेचकर प्रदूषण फैला रही हैं। आज भारत की लड़कियाँ गार्गी, ब्राह्मी, सुंदरी, सीता, अनुसूया, लक्ष्मीबाई, दुर्गाबाई, फ्लोरेंस नाइटेंगल, मदर टेरेसा, मेडम क्यूरी, कल्पना चावला, मेनका गांधी नहीं बनना चाहती अपितु सूर्पणखा, मंथरा, बिपाशा बसु, लारा दत्ता, मल्लिका सेरावत, ऐश्वर्या राय, सुष्मिता सेन बन रही हैं। क्योंकि इसमें बुद्धि–विवेक, पुरूषार्थ, गुणवत्ता की आवश्यकता नहीं होती है। केवल शरीर से वस्त्र उतारना पर्याप्त है। आज तो कॉलेज और विश्वविद्यालय ज्ञान, संयम, सदाचार आदि के स्थान पर अश्लीलता, भ्रष्टाचार, फैशन, गुण्डागर्दी

आदि के केन्द्र बन गये हैं। पहले ज्ञानदान होता था परन्तु आज ज्ञान का व्यवसायीकरण हो गया तभी तो ज्ञान के क्षेत्र में शोषण हो रहा है। विद्यार्थी अध्ययन नहीं करना चाहते हैं, शिक्षक भी पढाना नहीं चाहते हैं; केवल येन–केन प्रकारेण ट्यूशन/कोचिंग, भ्रष्टाचार के माध्यम से डिग्री प्राप्त करके फैशन–व्यसन, अश्लीलता, भ्रष्टाचार आदि को बढावा दे रहे हैं। आज विश्वविद्यालय के विद्यार्थी से लेकर प्राचार्य तक में कोई गुणवत्ता नहीं हैं। इसी प्रकार आज राजनीति, कानून, व्यवसाय, समाज यहाँ तक कि धर्म में भी गुणवत्ता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, वरिष्ठता, उत्पादकता अदि गुणों की कमी दिखाई दे रही हैं

इसीलिए हम भारतीयों को सच्चे संस्कार का ज्ञान–भान करके गौरव से जागृत होना एवं आगे बढना चाहिए।

निष्कर्षरूप में आचार्य श्री ने कहा कि इन सब कारणों से मैं विद्यार्थी जीवन से चिंतित, पीड़ित होकर इन कमियों को दूर करके व्यक्ति से लेकर समाज राष्ट्र, विश्व को आदर्शमय, शांतिपूर्ण बनाने के लिए प्रयास करता रहा हूँ। इसलिए मैंने धर्म से लेकर दर्शन, राजनीति, विज्ञान, शिक्षा आदि विषयों पर प्रायः 150 ग्रंथों का लेखन, हजारों लेखों का लेखन किया, 26 प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन तथा 6 राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों का आयोजन अभी तक किया है। भारतीय प्राचीन वाङ्मयों में निहित ज्ञान–विज्ञान का वर्णन मेरी 1) ब्रह्माण्डीय जैविक, भौतिक एवं रसायन विज्ञान, 2) अनंत शक्ति संपन्न परमाणु से लेकर परमात्मा, 3) प्रथम शोध–बोध आविष्कारक एवं प्रवक्ता, 4) विश्व विज्ञान रहस्य, 5) विश्व द्रव्य विज्ञान, 6) स्वतंत्रता के सूत्र, 7) विश्व प्रतिविश्व एवं श्यामविवर एवं 8) धर्मदर्शन विज्ञान आदि कृतियों में किया हैं। इस संगोष्ठी का प्रयोजन इस महान् उद्देश्य को लिए हुए हैं। हमें संपूर्ण जातिगत, पंथगत, दलगत संकीर्ण रूढिवादिताओं से ऊपर उठकर सार्वभौम शाश्वतिक, वैश्विक समता, सत्य एवं शांति के लिए सोचना, बोलना, लिखना चाहिए। आप किसी धर्मगत बात को मानो या न मानो परन्तु यदि आप सत्य, समता एवं शांति के उपासक हो तो आप सच्चे धार्मिक, वैज्ञानिक हो।

आचार्य श्री के उद्बोधन के बाद विभिन्न शोधार्थी, विद्वान, प्रोफेसर, श्रोताओं आदि ने मौखिक एवं लिखित रूप में अपने अभिप्राय एवं पक्ष को रखा। आचार्य श्री स्वयं लोकहित याचिका के माध्यम से बूचडखाना, अश्लीलता, नशीली वस्तुओं के विरूद्ध में कानूनी लड़ाई लड़ रहे हैं। इसके लिए आचार्य श्री ने सभा को सहयोग करने के लिए आह्वान किया।

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से परे है, जैन आध्यात्म विज्ञान

आचार्य कनकनंदी जी गुरूदेव

षष्ठम् अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी का सफलतम आयोजन

भारतीय प्राचीन वाङ्मय में तथा विशेषतः जैन आगम में निहित सार्वभौम, शाश्वतिक, विश्वकल्याणकारी सत्य–तथ्य को आधुनिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में शोध–बोध करके विश्व में प्रचार करने के लिए आचार्य श्री कनकनंदी जी गुरूदेव ससंघ प्रयासरत हैं। आचार्य श्री की भावना के क्रियान्वयन के लिए आचार्य श्री द्वारा स्थापित (1) धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान, (2) धर्म दर्शन सेवा संस्थान के कार्यकर्ता तन,मन, धन, समय, श्रम से प्रयासरत हैं। इसके फलस्वरूप आचार्य श्री के छः भाषा में 145 ग्रंथों का प्रकाशन, 26 शिविरों का आयोजन 5 कम्प्यूटरीकृत प्रतियोगिताओं का आयोजन अभी तक हो चुका है।

इसे विडंबना ही कहा जायगा कि भारत में विभिन्न उच्च दर्शनों का सद्भाव, ज्ञान, विज्ञान होते हुए भी उसका लाभ प्रबुद्धजन नहीं उठाते, वे उसका न तो उपयोग कर पाते हैं और न ही विज्ञान, शिक्षा, नैतिकता, मानवीयता, धार्मिकता आदि का लाभ ले पाते हैं। इस अभाव को देखते हुए आचार्य कनकनन्दी जी महाराज ने कुछ प्रबुद्ध सज्जनों व विद्वानों के अनुरोध पर विचार करते हुए विद्वत्जनों की संगोष्ठी का संकल्प लिया जिसमें विभिन्न दर्शन, विज्ञान, विधाओं के विद्वानों, प्रोफेसर्स, वैज्ञानिकों को आमंत्रित करके उन्हें शोध–पत्र तैयार करके प्रस्तुत करने का आह्वान किया। इसका मुख्य उद्देश्य था कि जनहित व प्राणीहित के लिये प्राचीन ज्ञान का शोध–बोध और अध्ययन हो व फिर उसका विश्लेषण हो जिससे कि प्राचीन भारतीय मनीषियों द्वारा प्रदत्त ज्ञान, विज्ञान, न्याय, गणित, समाजशास्त्र व अन्य विभिन्न विधाओं का उपयोग किया जा सके तथा इस ज्ञान को आधुनिक व वैज्ञानिक मंच पर प्रस्तुत किया जा सके। सागवाड़ा में प्रथम संगोष्ठी का आयोजन हुआ तथा उसी क्रम में उदयपुर में षष्ठम अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी "कर्म सिद्धान्त व उसके विभिन्न आयामों" पर दिनांक 26–29 दिसम्बर 2004 को आयोजित हुई जिसमें विभिन्न विषयों के विद्वानों ने भाग लिया।

इस संगोष्ठी की कुछ विशिष्ट देन है। प्रथम इसमें भारतीय संस्कृति के विभिन्न दर्शनों में कर्म सिद्धांत के प्रति अपने–अपने दृष्टिकोण का प्रस्तुतीकरण रहा है। विभिन्न दृष्टिकोणों में भिन्नता प्रतीत होते हुए भी वे एक ही शाश्वत सत्य की

पुष्टि करते हैं। द्वितीय–संगोष्ठी के आयोजन में जैन समाज के विभिन्न सम्प्रदायों ने मिलकर कार्य करने का एक प्रेरणास्पद उदाहरण प्रस्तुत किया है। एकता के इस सूत्र को सावधानी से सिंचित किया जाये तो समाज की एक अभिनव रचना संभव है। वैज्ञानिक धर्माचार्य श्री कनकनंदी जी गुरूदेव द्वारा प्रारंभ किये इन प्रयासों को आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी का आशीर्वाद प्राप्त हुआ और संगोष्ठी में विदुषी समणियों की भागीदारी संभव हुई। श्रमण संघ के महामंत्री श्री सौभाग्य मुनि जी का आशीर्वाद भी प्राप्त हुआ। संगोष्ठी में अन्य मुनियों के सानिध्य के भी अवसर सुलभ हुए। मुनि स्तर पर ऐसे उदार प्रयोग जैन समाज में एकता के नये सूत्र का प्रतिरोपण करेंगें, ऐसा माना जा सकता है। तृतीय–इस संगोष्ठी में कर्म और विज्ञान का एक अच्छा समन्वय बन पड़ा है। हम समझते हैं कि धर्म और विज्ञान के बीच में यह मेल धर्म को परिष्कृत करेगा और विज्ञान के मार्गदर्शन को भी प्रशस्त करेगा।

संगोष्ठी का उद्घाटन सत्र 26 दिसम्बर प्रातः 8.30 बजे शोभायात्रा के रूप में प्रारम्भ हुआ। श्री महेन्द्रकुमार टाया (महावीर सिरेमिक्स उद्योग) ने झंडारोहण किया। दीप प्रज्ज्वलन श्री रमेश कुमार सागोटिया (विकास अधिकारी) व मंगल कलश स्थापना श्री श्रीपाल जी ठोलिया ने किया। इस अवसर पर मुख्य अतिथि मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय के कुलपति प्रोफेसर डॉ. बी.एल. चौधरी ने शोध पत्रों पर आधारित स्मारिका का विमोचन किया। अध्यक्ष श्री चिरंजीलाल बगड़ा (कलकत्ता) ने आचार्य श्री द्वारा रचित "ब्रह्माण्डीय जैविक, भौतिक एवं रसायन विज्ञान" ग्रंथाक 143 का विमोचन किया। डॉ. नारायण लाल कछारा द्वारा रचित "जैन कर्म सिद्धान्त, अध्यात्म और विज्ञान–एक विश्लेषण", का विमोचन डॉ. शेखरचन्द्र जैन ने किया। विशिष्ट अतिथि डॉ. जी. एल. जैन (वैज्ञानिक) थे। मंत्रोच्चारण, प्रतिज्ञा (शपथ प्रदान) आचार्य श्री कनकनन्दी जी ने किया। भावना, दर्शना और साथियों, आदि ने प्रार्थना, भजन, आदि प्रस्तुत किये। इस अवसर पर आचार्य श्री ने आह्वान किया कि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व को प्रगतिशील एवं शांतिमय बनाने के लिए धार्मिक संकीर्णता एवं वैज्ञानिक अपूर्णता को त्यागकर उदारतावादी, सत्यनिष्ठ, वैज्ञानिक धर्म को अंगीकार करना केवल आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है।

द्वितीय सत्र मंगलाचरण से प्रारम्भ हुआ। इस सत्र में विशेष रूप से कर्म सिद्धान्त के सैद्धान्तिक एवं वैज्ञानिक विवेचन की प्रधानता रही। इस विषय पर आठ शोधार्थियों द्वारा शोधपत्र प्रस्तुत किये गये। श्री एन. के. गोयल ने "कर्म सिद्धान्त का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन", डॉ. वीरेन्द्र जैन तथा श्री सुरेशचन्द्र बारोलिया ने भी इसी विषय पर अपने शोधपत्र में प्रकाश डाला। डॉ. उत्पला के. मोदी ने "The

philosophical and scientific foundation of doctrine of karma", डॉ. कोकिला शाह ने "The philosophical account of the jain doctrine of karma" डॉ. रेणुका पोरवाल ने "knowledge covering karma" तथा डॉ. (कर्नल) डी.एस. बया "श्रेयस" ने "A Scientific analysis of Jain doctrine of karma" पर अपने शोध पत्र प्रस्तुत किये। अन्त में, बड़ौदा से पधारे डॉ. रमानाथ पाण्डेय ने "बौद्ध धर्म में कर्म की अवधारणा – एक नूतन दृष्टि" विषय पर अपने विचार रखे। प्रत्येक शोध प्रबन्ध के आख्यानोपरान्त परम्परा के अनुसार आचार्य श्री कनकनन्दी जी के साथ–साथ अन्य विद्वानों व आगन्तुकों के द्वारा प्रश्नों के रूप में विचार मंथन हुआ। प्रश्न अनुत्तरित रहने पर आचार्य श्री ने स्वयं व्याख्या की। इस सत्र के मुख्य अतिथि श्री सुशील चन्द्र जैन सर्राफ (बड़ौत) तथा संयोजना श्री प्रभात कुमार जैन ने की।

आरती के पश्चात् रात्रिकालीन तृतीय सत्र 7.00 बजे मंगलाचरण से प्रारम्भ हुआ। इस सत्र के मुख्य अतिथि आयड़ निवासी परम गुरूभक्त बृजलालजी पाडलिया तथा मंच संचालक मुम्बई विश्वविद्यालय की डॉ. उत्पला के. मोदी रही। इस सत्र में श्री परमहंस जिदानन्द ने "Various paths to soul purification of the doctrine of karma (Action)", श्री अजीत कुमार जैन ने "कर्म सिद्धान्त" में निहित विश्व शान्ति एवं विश्व व्यवस्था" तथा भाभानगर स्थित राजस्थान परमाणु केन्द्र के वैज्ञानिक अधिकारी डॉ. अजीत प्रकाश जैन ने "कर्म सिद्धान्त और आत्म विकास के विभिन्न आयाम" पर शोधपत्रों का वाचन किया।

दिनांक 27.12.2004 को 9.00 बजे प्रातःकालीन सत्र मंगलाचरण से प्रारम्भ हुआ। दिल्ली विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के प्रोफेसर डॉ. मदन मोहन बजाज ने इस सत्र की अध्यक्षता की तथा श्री महावीर जी मिण्डा ने मुख्य अतिथि पद को सुशोभित किया। संचालन श्री प्रभात कुमार जैन ने किया। लाडनूँ से पधारी समणी मल्लि प्रज्ञा जी, समणी (डॉ.) चैतन्य प्रज्ञाजी तथा जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूं के श्री सोहनराज तातेड़ ने अपने शोधपत्रों का वाचन किया जिनकी महती प्रशंसा हुई। अन्त में आचार्य श्री कनकनन्दी जी का प्रवचन हुआ।

मध्यान्हकालीन सत्र के संचालक इसरों के वैज्ञानिक डॉ. राजमल जैन के तत्वावधान में पं. निहालचन्द जैन ने "कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता" आर. के. महाविद्यालय, शामली के भौतिकी विभाग के रीडर डॉ. के.के. शर्मा ने "Doctrine of karma and it's scientific dimensions" श्री हेमन्त कुमार जैन ने कर्म सिद्धान्त का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन" तथा ब्र. संदीप कुमार बी. वैद्य व डॉ. हेमलता बोलिया ने "कर्म सिद्धान्त एवं पर्यावरण विज्ञान" पर अपने–अपने शोध प्रबन्धों की

वाचना की।

रात्रिकालीन सत्र में "कर्म सिद्धान्त और आरोग्य विज्ञान" पर डॉ. शक्ति कुमार शर्मा "शकुन्त", डॉ. हरीशचन्द्र जैन (जामनगर) तथा आचार्य राजकुमार जैन (इटारसी) ने अपने शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किये।

दिनांक 28.12.2004 को प्रातः कालीन सत्र में संघस्थ श्री ऋद्धि श्री माताजी ने "जैन कर्म सिद्धान्त–विविधताओं का आयाम" पर तथा धर्मदर्शन सेवा संस्थान के सचिव डॉ. नारायणलाल कछारा ने अपने ग्रंथ "जैन कर्म सिद्धान्त–आध्यात्म एवं विज्ञान" पर वार्ता प्रस्तुत की। इन्हें महती सराहना मिली।

मध्यकालीन सत्र में डॉ. हनुमानसिंह बर्डिया के संचालन में डॉ. एम. एम. बजाज ने "Experimental Aspects of karma" डॉ. रतनलाल जैन (हांसी) ने "कर्मवाद में मनोविज्ञान के तत्व", श्रीमती मनोरमा जैन ने "कर्मसिद्धान्त एवं मनोविज्ञान", डॉ. संजीव सर्राफ ने "कर्म सिद्धान्त का वैज्ञानिक विवेचन", डॉ. मुकेश जैन ने "कर्म सिद्धान्त का गणितीय व वैज्ञानिक अध्ययन" तथा श्री विवेक कुमार कोठिया ने "कर्म–करम–कर्मी" पर अपने शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किये।

रात्रिकालीन सत्र में डॉ. महिमा बासल्ल का "कर्म सिद्धान्त एवं समाज न्याय व्यवस्था, श्री प्रमोद कुमार जैन का "कर्म सिद्धान्त में निहित विश्व शान्ति तथा विश्व व्यवस्था", प्रो. (डॉ.) विमला जैन का "कर्म सिद्धान्त एवं समाज – न्याय व्यवस्था, सुश्री वर्षा शाह का "Karma and Astrology" व डॉ. कामिनी गोगरी ने "Nudity – socio ethics implications with reference to karma theory",पर शोध पत्र प्रस्तुत किये। मुख्य अतिथि अतिरिक्त जिलाधीश श्री एस.एन. लाठी तथा संयोजना डॉ. एम. एम. बजाज व प्रभात कुमार जैन ने की ।

दि. 29 दिसम्बर को प्रातःकालीन सामूहिक चर्चा सत्र में आचार्य श्री ने प्राचीन भारतीय वाड्.मय तथा जैन आगम में निहित ज्ञान–विज्ञान का आधुनिक शोध–बोध, प्रचार–प्रसार तथा प्रायोगीकरण के लिए आह्वान किया। इसके साथ–साथ हिंसा, बूचड़खाना, फैशन, व्यसन, नशीली वस्तुओं का उत्पादन, क्रय–विक्रय, प्रयोग तथा अश्लीलता को दूर करने के लिए राष्ट्रव्यापी आन्दोलन के लिए आह्वान किया। विभिन्न शोधार्थियों ने भी अपने–अपने विचार प्रकट किए।

अंतिम समापन सत्र मे मुख्य अतिथि श्री गुलाबचन्द जी कटारिया (गृहमंत्री, राजस्थान सरकार) तथा अध्यक्ष – मेवाड़ महामण्डलेश्वर महंत श्री मुरली मनोहरशरण शास्त्री रहे। समस्त शोधार्थियों को पीतल के प्रशस्तिपत्र और आचार्य श्री के साहित्य देकर सम्मानित किया गया। संगोष्ठी के स्वयंसेवक, अर्थसहयोगी, श्रमदाता आदि का

भी सम्मान किया गया।

इस संगोष्ठी में पूरा उदयपुर कर्ममय हो गया। संगोष्ठी की सफलता एवं गुणवत्ता की सबने भूरि–भूरि प्रशंसा की। इस संगोष्ठी में अधिकतम योगदान डॉ. नारायणलाल कछारा, श्री अमृतलाल जैन, श्री छोटूलाल चित्तौड़ा आदि का रहा। संगोष्ठी में उदयपुर शहर की जनता के साथ–साथ अनेक ग्रामीण जनता ने भी लाभ उठाया। आचार्य श्री ने अन्त में मंगलमय आशीर्वाद एवं शांतिपाठ में विश्व में सत्य, समता, शान्ति का प्रचार–प्रसार हो ऐसी भावना व्यक्त की।

आगामी संगोष्ठी आचार्य श्री कनकनन्दी जी द्वारा रचित ग्रंथ "ब्रह्माण्डीय जैविक, भौतिक एवं रसायन विज्ञान" (मूल्य 125 रू.) "अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से लेकर परमात्मा" (मूल्य 201रू.) पर होगी। शोधार्थियों के लिए उपरोक्त ग्रंथ अर्द्धमूल्य (एवं डाकखर्च) पर उपलब्ध होंगें। इस अवसर पर आगामी संगोष्ठी के पीतल के प्रशस्ति पत्र श्रीमती लक्ष्मी गुरूचरण जैन तथा टी.वी. में संगोष्ठी के प्रचार का अर्थभार संदीप गुरूचरण (मुम्बई) ने वहन करने के लिए स्वेच्छा से घोषणा की।

सम्पर्क सूत्र एवं साहित्य प्राप्ति स्थान :–
आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरूदेव
C/o श्री छोटूलाल चित्तोड़ा, धर्म–दर्शन सेवा संस्थान, चन्द्रप्रभु दिगम्बर. मन्दिर,
आयड़ बस स्टॉप के पास, उदयपुर–313001 (राज.)
फोन– 0294–2[illegible]3565

प्रस्तुति :– प्रो. प्रभात कुमार जैन (संघस्थ), रेखारावल (एम.ए.), दीपेश जैन (गनोड़ा)

JAIN FACTS: BEYOND MODERN KNOWLEDGE

A treatise in two volumes by Acharya Kanaknandiji

Most reverend Jainacharaya Kanaknandiji has dedicated his life to the quest of profound scientific knowledge that forms the basis of Jain philosophy. In the course of this quest he has not only unraveled the mysteries of this universe, its constituents, and the laws that govern their behavior, as described in the Jain Aagams, he has also undertaken to bring forth this knowledge to the attention of the world. Aacharyashri is a prolific writer. He has written 142 books on the Jain philosophy, metaphysics, and epistemology. The present books are the 143 rd and 144th in the series and mark an important step in Aacharyashri's mission of demonstrating the scientific analogical basis of the Jain philosophy.

The modem science, as we know it, is devoted to the understanding of the physical matter, its qualities, and the forces that govern its behavior. Science has indeed gone a long way in understanding the nature of the minute particles that constitute matter, the various forces, such as the forces of gravity and magnetism and the electromotive forces that pervade this universe, and the relationship between energy and matter. Science has even explored the phenomena that govern the nature and attributes of our physical body, delving into such areas as the DNA and the genomes. However astounding as the discoveries of our modem science are, there is still so much to know and learn. Our knowledge is incomplete, uncertain and partial. New discoveries often negate or disprove what we once believed to be true, and a true scientist is the first to acknowledge that. We still stand at the periphery of a vast ocean of knowledge and that much of the universe is still unknown to us.

The knowledge of the physical is but just one aspect of knowledge. What are more important but vastly more difficult to comprehend, are the nature and quality of the living, the soul. Jain philosophy provides a scientific and logical description of the nature of both, the physical and the spiritual, and of the relationship between the spirit or soul and the physical or the non-living. In gaining an understanding of the physical nature of substance, Jain thought has ventured into fields that go beyond our modern scientific knowledge, and ancient Jain phi-

osophers and sages have discoursed on areas of knowledge far ahead of their time. One must understand here that the knowledge that Kevalis, the omniscient, possessed was complete and absolute but only a miniscule part of that knowledge has been made available to us by the learned through the Aagams. However, miniscule that part still stands at the forefront of scientific discovery.

What must be emphasized is that it is in understanding the nature of soul and its destiny, rather than in knowledge of physical matter, that the Jain philosophy is most impressive. As stated earlier, Modern science does not even touch this vast field of knowledge, which provides the very basis for our existence.

Through his writings Aacharyashri has attempted to bring before his readers the contributions of Jain thought to the understanding of the living and the physical. He has repeatedly demonstrated how the Jain thought is singularly logical and scientific in its enunciation. He often states that *Dhama* proyides a complete basis for the understanding of this universe and its constituents, both animate and inanimate while the modem science deals only with the physical and even there its understanding is often incomplete, faulty and misleading.

The present work provides a research oriented, spiritual, philosophical, scientific and mathematical exposition of the wealth of knowledge that resides in the Jain philosophy. Acharyashri states that while modern science -provides an explanation for the physical phenomena of nature on the basis of a study of the fundamental particles that constitute all matter and the forces that govern the behavior of such particles, Jain philosophy deals with the entity that gives life, and how it is affected by its association with "Karmic particles and the Karmic forces". It provides a rather unique and thoroughly logical theory of interaction between the Karmic particle and the soul and the transmigration of such particles with the soul. The soul, in fact, serves as the medium that holds a record of the influx, bondage, stoppage, and stripping of karmic particles. Aarchayashri goes on to explain in detail the many facts of knowledge that the Jain philosophy has explored, and how it has been a pioneer in such exploration. Following are some of these areas:

Jain philosophy has always maintained that there is the universe without a beginning or an end, everlasting and eternal, but continuously undergoing transformation. Modem science has also embraced

this concept.

Jain religion has provided the most comprehensive description of the nature of both the animate and the inanimate. The proposition that the animate (Jeevas) exists in two forms, as embodied souls and as liberated souls is a unique concept. Even more astounding in its logical brilliance is the division of the embodied or the mundane souls into *sthavar*, having one sense organ and embracing in its scope the earth, water, fire, wind and vegetation, and the *tras* having two to five sense organs.

Equally brilliant is the Jain description of matter or inanimate and its constituents, the *anu* or atom and the *skandh* or molecule. Jainism has also recognized that energy is a form of matter. It is interesting to note that it was not until Einstein's discoveries that our modem science came to the same conclusion.

These are but some of the highlights of the scientific and logical philosophy of Jainism. Jain philosophy provides a comprehensive description of the universe and the animate and inanimate that constitutes it. It also discusses the meaning of 'our existence, the purpose of this life and its destiny, arid the forces that control that destiny.

The present work, as well as others that preceded it, provides the most valuable source for a study of the Jain philosophy and how it is based on sound scientific, mathematical and logical reasoning. Through his writings and his kind and compassionate nature Acharyashri has inspired so many to seek the truth and understand the meaning and purpose of their life. I offer my most profound and humble regards to Aacharyashri not only for his virtuous, pure and serene lifestyle but also for his brilliance and scholarship, and his commitment to opening the treasures of Jain thought for everyone to see and admire and learn from.

Jagmohan Humar. Ph.D.
Distinguished Research Professor
Carleton University
Ottawa. Canada

अनुक्रमणिका

I. प्रकाशकीय iii
II. प्राचीन भारतीय वाङ्मय ..... से विश्व शांति संभव vi
III. षष्ठम् अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संगोष्ठी का सफलतम आयोजन xi
IV. Jain Facts: Beyond Modern Knowledge xvi

1. सूक्ष्म शरीर की व्यवस्था – जैन मान्यताएँ आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में – *डॉ. नारायण लाल कछारा* 20
2. बौद्धधर्म में कर्म की अवधारणा: एक नूतन दृष्टि – *डॉ. रमानाथ पाण्डेय* 38
3. जैन कर्म सिद्धान्त और स्वास्थ्य – *डॉ. शक्तिकुमार शर्मा "शकुन्त"* 56
4. कर्म सिद्धान्त एवं समाज, न्याय व्यवस्था – *डॉ. महिमा बासल्ल* 64
5. कर्म सिद्धान्त एवं समाज न्याय व्यवस्था – *डॉ. विमलाजैन (विमल)* 73
6. Karma and Astrology - *Varsha shah* 79
7. कर्म–सिद्धान्त एवं पर्यावरण विज्ञान – *संदीपकुमार बी. वैद्य* 86
8. जैन कर्म–सिद्धान्त और वंश–परम्परा विज्ञान – *सोहनराज तातेड़* 95
9. कर्म सिद्धान्त में वर्णित आत्मविकास के विभिन्न आयाम – *डॉ. अजित जैन* 105
10. कर्म सिद्धांत का वैज्ञानिक विवेचन – *डॉ. संजीव सराफ व डॉ. अजित जैन* 118
11. कर्म सिद्धांत का वैज्ञानिक एवं गणितीय विवेचन – *डॉ. मुकेश जैन व डॉ. प्रो.एल.सी.जैन* 123
12. कर्म सिद्धांत की वैज्ञानिकता – *पं. निहालचंद जैन प्राचार्य* 131
13. कर्म सिद्धांत का वैज्ञानिक विवेचन – *सुरेश चन्द्र जैन बारौलिया* 139
14. कर्म सिद्धान्त और आरोग्य–विज्ञान – *समणी मल्लिप्रज्ञा* 150
15. कर्माधीन है शरीर का आरोग्य–अनारोग्य – *आचार्य राजकुमार जैन* 160
16. The Jaina Doctrine of Karma and Neuroscience - *Rashmikumar J. Zaveri* 170
17. A Scientific analysis of the Jaina doctrine of Karma - *Dr. (Col.) D.S. Baya 'Sreyas'* 188

सूक्ष्म शरीर की व्यवस्था - जैन मान्यताएँ आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में

डा0 नारायण लाल कछारा
सचिव, धर्म दर्शन सेवा संस्थान

1.0 सूक्ष्म शरीर

जैन मान्यता के अनुसार शरीर पाँच प्रकार के होते हैं – औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला स्थूल शरीर औदारिक शरीर है। जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थो को ग्रहण करता है वह आहारक शरीर है। तैजस शरीर विद्युत शरीर है और कार्मण शरीर कर्म परमाणुओं से बना है। पुद्गल कर्म कार्मण शरीर में स्थित होते हैं। वैक्रियक शरीर अणिमा, महिमा आदि आठ गुणों से युक्त होता है। यह शरीर देवों और नारकियों के होता है। सामान्यतया एक समय में मनुष्य के तीन शरीर होते हैं, औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर। विशेष अवस्था में ऋद्धि प्राप्त योगियों के वैक्रियक और आहारक शरीर भी हो सकते हैं। मृत्यु होने की दशा में स्थूल शरीर छूट जाता हैं और तैजस तथा कार्मण शरीर आत्मा के साथ संलग्न रहते हैं तथा नई पर्याय में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार तैजस और कार्मण शरीर अनादि काल से आत्मा के साथ हैं और जब तक सभी कर्मो का क्षय नहीं हो जाता वे जन्म–जन्मान्तरों तक आत्मा के साथ बने रहेंगें। तैजस शरीर और कार्मण शरीर के सम्मिलित रूप को सूक्ष्म शरीर कहा गया है।

कर्म शरीर संस्कारों का वाहक हैं। जन्म–जन्मान्तरों की संस्कार–परम्परा इसके साथ जुड़ी हुई होती हैं। व्यक्ति का चरित्र, ज्ञान, व्यवहार, व्यक्तित्व, कर्त्तव्य, इन सबके बीज कर्म शरीर में सन्निहित हैं।

तैजस शरीर के मुख्यतया दो कार्य हैं (1) शरीर तंत्र का संचालन और (2) अनुग्रह–निग्रह की क्षमता। हमारी जीवनीशक्ति का आधार प्राणतत्व, तैजस शरीर से ही प्रवाहित होता है। योग आचार्य इसे प्राणमय कोश तथा वैज्ञानिक "वाईटल बॉडी" या बायो– इलेक्ट्रिकल प्लाज्मा कहते हैं। यह विद्युतीय शरीर है और ऊर्जा का अपार भंडार है। मनुष्य शरीर की प्रत्येक कोशिका में स्वतंत्र ऊर्जा स्रोत है जहाँ विद्युत ऊर्जा उत्पन्न होती है। उसी से पूरा शरीर तंत्र सक्रिय रहता है। सूर्य तथा ब्रम्हाण्ड की

म तरंगों से भी निरन्तर ऊर्जा मिलती रहती है। उससे भी तैजस शरीर पुष्ट होता

मृत्यु और नये जन्म के बीच का समय अन्तराल–काल कहलाता है। उसका परिमाण एक, दो, तीन या चार समय तक का है। अन्तराल–काल में आत्मा जिस गति में गमन करता है उस गति का नाम "अन्तराल–गति" है। इस अन्तराल–गति में जीव के स्थूल इन्द्रियाँ नहीं होती हैं परन्तु ज्ञानेन्द्रियां होती हैं जिससे उसे स्व–संवेदन का अनुभव होता है। किरलियन फोटोग्राफी द्वारा मरते हुए आदमी का फोटो लिया गया, तो ऐसा लगा कि इस शरीर जैसी आकृति शरीर से बाहर आ रही है। यह सूक्ष्म शरीर है।

1.1 सूक्ष्म शरीर के तंत्र

हमारी चेतना के अनेक स्तर है। उनमें सबमें स्थूल स्तर है इन्द्रिय। उससे सूक्ष्म है मन। उससे सूक्ष्म है बुद्धि और उससे सूक्ष्म है अध्यवसाय। इस प्रकार स्तर असंख्य हो सकते हैं जिनका नामकरण नहीं किया जा सकता। आत्मा अमूर्त है। शरीर में आत्मा की क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती हैं। यह अभिव्यक्ति सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर दोनों में होती है। हम सूक्ष्म शरीर के अभिव्यक्ति तंत्र के बारे में संक्षिप्त विचार करेंगे। यह तंत्र मुख्यतया स्पंदनों, तरंगों से निर्मित है।

1.2 अध्यवसाय

संसारी जीव में आत्मा की चैतन्य शक्ति आवृत होती है। आत्म शक्ति के स्पंदन आवरणों से होते हुए सूक्ष्म और स्थूल शरीर में प्रकट होते हैं। आत्मवादी दर्शन के अनुसार केन्द्र में एक चेतन आत्मा है। इस केन्द्र की परिधि में अति सूक्ष्म कर्म शरीर द्वारा निर्मित कषाय का वलय है। यद्यपि चेतन तत्व शासक के स्थान पर है, फिर भी कषायतंत्र इतना शक्तिशाली है कि इसकी इच्छा के बिना शासक कुछ नहीं कर सकता। चैतन्य की प्रवृति स्पन्दन के रुप होती है। इन्हें बाहर निकलने के लिए कषाय वलय को पार करना पडता है। पार करने पर आत्मा के स्पन्दन कषायरंजित हो जाते हैं जिन्हें अध्यवसाय कहा जाता है। अर्थात कर्म शरीर रुपी कषायतंत्र से बाहर आने वाले स्पन्दनों में कषाय के गुण आ जाते हैं। कषायतंत्र कितना भी शक्तिशाली हो, फिर भी आत्मा में वह शक्ति है जिसका प्रयोग कर वह कषाय का विलय कर सकता है। इस स्थिति में यद्यपि कषाय का तंत्र समाप्त नहीं होता है फिर भी इसकी सक्रियता कम हो जाएगी और प्रभाव क्षीण हो जाएगा। परिणाम स्वरुप जो

अध्यवसाय बाहर आएगें वे मंगलरुप और कल्याणकारी होगें। ऐसा तभी होता है जब आत्म चेतना जागृत हो गई है।

मन मनुष्य या अन्य विकसित प्राणियों में ही होता है। किन्तु अध्यवसाय सब प्राणियों में होता है। अध्यवसाय हमारे ज्ञान का सबसे बडा स्रोत है। अध्यवसाय के अनेक स्पन्दन अनेक दिशाओं में आगे बढतें हैं। इनकी एक धारा तैजस शरीर के साथ–साथ सक्रिय होकर आगे बढती है तो लेश्या तंत्र बन जाता है। लेश्या के रुप में अध्यवसाय की यह धारा रंग से प्रभावित होती है और रंग के साथ जुडकर भावों का निर्माण करती है। जितने भी अच्छे या बुरे भाव है,वे सारे इसके द्वारा ही निर्मित है। अध्यवसाय के स्पन्दन आगे बढकर सीधे स्थूल शरीर में भी उतरते हैं। वहाँ सबसे पहले मस्तिष्क के माध्यम से चित्त का निर्माण करते हैं।

विज्ञान के अनुसार भी जिन जीवों के मस्तिष्क नहीं होता, मन नहीं होता, उनकी कोशिकाएँ सारा ज्ञान करती हैं। वनस्पति जीव जितने संवेदनशील होते हैं, मनुष्य उतने संवेदनशील नहीं होते। वनस्पति में अध्यवसाय का सीधा परिणाम होता है। इसलिए उन जीवों मे जितनी पहचान, जितनी स्मृति और दूसरों के मनोभावों को जानने की जितनी क्षमता होती है, वैसी क्षमता सारे मनुष्यों में भी नहीं होती।

लेश्या से भावित अध्यवसाय जब आगे बढ़ते हैं तो वे हमारे अंतःस्रावी ग्रंथितंत्र को प्रभावित करते हैं। इन ग्रंथियो का स्राव हमारे कर्मो के अनुभाग यानि विपाक का परिणमन है। इस प्रकार पूर्वसंचित कर्म का अनुभाग रसायन बनकर ग्रंथितंत्र के माध्यम से हार्मोन के रूप में प्रकट होता है। ये हार्मोन रक्त संचार तंत्र के द्वारा नाड़ी तन्त्र और मस्तिष्क के सहयोग से हमारे अंतर्भाव, चिन्तन, वाणी, आचार और व्यवहार को संचालित और नियंत्रित करते हैं। इस तरह ग्रंथितंत्र सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच "ट्रांसफार्मर" परिवर्तन का काम करता है। अध्यवसाय की अपेक्षा से यह स्थूल है और शरीर के बीच की कड़ी हैं, जो हमारी चेतना के अति सूक्ष्म और अमूर्त आदेशों को भौतिक स्तर पर परिवर्तित कर देती हैं और मन एवं स्थूल शरीर तक पहुंचाती हैं।

मन, शरीर और वाणी – ये तीनों क्रिया तंत्र (योग तंत्र) के अंग हैं, क्रियान्विति के साधन हैं ज्ञान के साधन नहीं। ज्ञान तंत्र, चित्त तंत्र तक और भाव तंत्र, लेश्या तंत्र तक समाप्त हो जाता है। इन दोनों के निर्देशों की क्रियान्विति के लिए क्रिया तंत्र सक्रिय होता है। मन का कार्य है– स्मृति, कल्पना और चिंतन करना। मन का काम ज्ञान करना नहीं है। मन का काम है– चित तंत्र और लेश्या तंत्र से मिलने वाले निर्देशों का पालन करना ।

इस प्रकार चेतना के तीन स्तर हैं।

स्थूल चेतना का स्तर – यह स्थूल शरीर के साथ कार्यशील रहता है।

2. लेश्या का स्तर – यह तैजस शरीर के साथ काम करता है।
3. अध्यवसाय का स्तर– यह कार्मण शरीर के साथ काम करता है।

आत्मा मूल चेतना है। चैतन्य की रश्मियाँ अनेक दिशाओं में बढ़ती हैं। यह चैतन्य की रश्मियां कर्म शरीर के कषायों के साथ सक्रिय होती हैं, तब अध्यवसाय स्तर का निर्माण होता है। अध्यवसाय के स्पन्दन आगे बढ़ते हैं और तैजस शरीर के साथ सक्रिय होते हैं, तब लेश्या स्तर का निर्माण होता है। लेश्या के स्पंदन आगे बढ़ते हैं और स्थूल शरीर में प्रवेश करते हैं जहाँ वे ग्रंथि–तंत्र को प्रभावित करते हैं। ग्रंथि तंत्र के माध्यम से वे भावों के रूप में प्रकट होते हैं। स्थूल शरीर के साथ जहाँ आत्मा का स्पंदन जुड़ता है, वहाँ चित का निर्माण होता है। चित्त की अभिव्यक्ति मस्तिष्क अर्थात् नाड़ी तंत्र के माध्यम से होती है। अध्यवसाय हमारे नाड़ी संस्थान और मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं और जब वे लेश्या की दिशा में आगे बढ़ते हैं तब ये हमारी ग्रंथियों और उनके माध्यम से हमारे सारे शरीर तंत्र को प्रभावित करते हैं। चित्त द्वारा प्रवृति तंत्र का संचालन होता है।

भाव का सम्पर्क चित्त से होता है। चित उनसे कभी प्रभावित होता है कभी नहीं होता है। भाव मंद होता है और चित्त जागरूक होता है तो चित्त प्रभावित नहीं होता। चित्त अजागरूक होता है और भाव तीव्र होता है तो चित्त प्रभावित होता है। भावों से प्रभावित चित्त अपना स्वतन्त्र निर्णय नहीं कर पाता। जिस दिशा में भाव प्रेरित करते हैं, उसी दिशा में प्रवृति तंत्र का संचालन होता है और व्यक्ति वैसा ही आचरण व व्यवहार करने लगता है। भावों को मंदता में चित अप्रभावित रहता है और अपना स्वतंत्र निर्णय करता हैं। चित्त आचरण और व्यवहार को परिष्कृत करने में सक्षम हो जाता हैं। भावों की तीव्रता को कम करने, आचरण और व्यवहार को परिष्कृत करने के लिए लेश्या परिवर्तन का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

अध्यवसाय के आधार पर भाव–परिवर्तन होता है और भाव परिवर्तन के आधार पर विचार परिवर्तन होता है। विचार का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, स्वतंत्र मूल्य नहीं है। सारे विचार भावतंत्र के आधार पर पैदा होते हैं और विलीन हो जाते हैं। भावतंत्र पर कोई नियंत्रण नहीं हो सकता है। शरीर, वाणी, मन की प्रवृति पर नियंत्रण किया जा सकता है। भाव और लेश्या के क्षेत्र में नियंत्रण नहीं शोधन होता है। जब तक शोधन नहीं होगा तब तक नियंत्रण की बात सामने आती रहेगी। रूपान्तरण के बाद नियंत्रण की जरूरत नहीं होती।

1.3 लेश्या

लेश्या का काम है कषाय की तरंगों और कषाय की शुद्धि होने पर आने वाली चैतन्य तरंगों को भाव के सांचे में ढालना, भाव के रूप में इनका निर्माण करना और उन्हें विचार तक, क्रिया तक पहुँचा देना। यह सबसे बड़ा संस्थान है। सूक्ष्मशरीर और स्थूल शरीर के बीच में सम्पर्क सूत्र का काम लेश्या करती है। मन वचन और काया की प्रवृति द्वारा जो कुछ बाहर से आता है लेश्या उसे लेती है और कषाय तंत्र तक पहुँचा देती है। जो कर्म बन जाता हैं वह फिर विपाक में आता है। उसे लेश्या अध्यवसाय से लेकर हमारे सारे स्थूल तंत्र तक, मस्तिष्क और अंतःस्रावी ग्रन्थियों तक पहुंचा देती है। आवागमन करने वाली ये लेश्याएँ रंगीन होती हैं, रंग भेद से ही उनकी पहचान होती है।

लेश्या के दो भेद हैं पौद्गलिक लेश्या और चैतसिक लेश्या अथवा द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। द्रव्य लेश्या के दो प्रकार हैं – कर्म लेश्या और नोकर्म लेश्या। जब कार्मण शरीर से कर्म प्रवाहित होकर तैजस शरीर में प्रकट होते हैं तो वह कर्म लेश्या कहलाती है। कार्मण परमाणुओं मे वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये चारो गुण होते हैं। उनमें वर्ण मनुष्य के शरीर और मन को अधिक प्रभावित करता है इसलिए वर्ण के आधार पर लेश्याओं को वर्गीकृत किया गया है। सूर्य का प्रकाश, विभिन्न रंगों की किरणें, ज्योति, रत्नों की रश्मियॉ आदि नोकर्म लेश्या हैं।

कर्म लेश्या का जैसा प्रवाह होता हैं, वैसी ही हमारी आत्म–परिणति हो जाती है। वह भाव लेश्या कहलाती है। आत्मा के परिणामों का अपना कोई रंग नहीं होता। सामने जिस रंग के परमाणु आते हैं, आत्मा का परिणाम उस रंग में बदल जाता है वैसी ही हमारी भाव लेश्या हो जाती है। विभिन्न जीवों के भाव रूपी शरीर का रंग विभिन्न होता है। रंगो के अनुसार लेश्या छः प्रकार की होती हैं। इन छः लेश्याओं का सूक्ष्म विवेचन करने पर संख्यात, असंख्यात, भेद–प्रभेद हो जाते हैं। छः प्रकार की लेश्याएँ निम्न हैं– कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या।

कृष्ण, नील और कापोत लेश्या को अशुभ लेश्या और तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या को शुभ लेश्या कहा जाता है। किसी एक काल में जीव के एक लेश्या होती है। कर्मों के भोग से, कर्म निर्जरा से, जीव के अध्यवसाय व पुरूषार्थ से जागृत कर्मो में परिवर्तन हो जाता है और लेश्या भी बदल जाती है। मनुष्यों और तिर्यचों में सामान्य से छहों लेश्या हो सकती हैं। नारकियों में अशुभ लेश्या और देवों के शुभ लेश्या होती हैं। कृष्ण, नील, कापोत लेश्या एकेन्द्रिय से लेकर चौथे गुणस्थान पर्यन्त होती है। पीत और पद्म लेश्या एक से सातवें गुणस्थान मे होती हैं। शुक्ल लेश्या

एक से तेरहवें गुणस्थान में होती है। चौदहवें गुणस्थान में लेश्या नहीं होती।

2.0 कुछ आधुनिक वैज्ञानिक शोध

अब यहाँ कुछ आधुनिक वैज्ञानिक शोध का उल्लेख किया जा रहा है जिनका संबंध लेश्या और अध्यवसाय से हैं। वैज्ञानिकों ने कृत्रिम विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र के मस्तिष्क पर प्रभाव का अध्ययन किया है। इस प्रयोग में व्यक्ति को एक नई प्रकार की अनुभूति होती है और उसके भावों में परिवर्तन होता है। इसके बाद हम जैव प्रकाश की चर्चा करेंगे। यह जैव प्रकाश हमारी समस्त शारीरिक क्रियाओं का संचालन और नियंत्रण करता है।

2.1 मस्तिष्क पर विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र का प्रभाव

सन् 1934 में डॉ. वाइल्डर पेनफील्ड अपने रोगियों के मस्तिष्क की सरजरी कर रहे थे। जब रोगी के टेम्पोरल लोब को बिजली से उत्तेजित किया गया तो रोगी ने बताया कि उसको अपने जीवन के पूर्व अनुभवों की स्मशति हो आई हैं। डॉ. पेनफील्ड ने और ऐसे प्रयोग किये तो पाया कि रोगी को भय, अकेलापन, दुःख, आतंक आदि की अनुभूति भी होती है। कुछ रोगियों को अनुभूति हुई कि जैसे वे अपने शरीर से बाहर चले गए हैं। डॉ. पेनफील्ड का विचार था कि ऐसे प्रयोगों में रोगी की पूर्व स्मृति जागृत हो जाती है और उसे भांति–भांति के अनुभव होते हैं। इस घटना के लगभग 50 वर्ष बाद लोरेन्सियन विश्वविद्यालय ओन्टारियों के न्यूरो मनौवैज्ञानिक डॉ. माइकल ए. परसींगर ने इस कार्य में फिर रूचि दिखाई। उन्होने हेलमेट जैसा एक उपकरण बनाया जिसमें सोलेनायड़ के रूप में विद्युत चुम्बक लगे हुए थे। इस उपकरण से रोगी के मस्तिष्क के किसी भी भाग में विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा पहुँचाई जा सकती थी। डॉ. परसींगर के रोगियों को भी उसी प्रकार की अनुभूति हुई जैसे कि डॉ. पेनफील्ड के रोगियों को हुई थी। डॉ. परसींगर का हेलमेट उपकरण अधिक उन्नत किस्म का था। उसमें विद्युत चुम्बकीय पल्स की आवृति और तीव्रता को बदला जा सकता था। इस तकनीक को ट्रांसक्रेनियल मेग्नेटिक स्टीमुलेशन (TMS) कहा जाता है। इसमें चुंबकीय आवेग मस्तिष्क के टेम्पोरल लोब में प्रवेश करके वहाँ उपस्थित विद्युत क्षेत्र से क्रिया करते हैं। इस क्रिया से एक नये प्रकार का विद्युत चुंबकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है जो व्यक्ति को बिल्कुल नई अनुभूति करवाता है। डॉ. परसींगर ने लगभग एक हजार लोगों पर प्रयोग करके कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। उन्होने पाया कि व्यक्ति को जो अनुभव होता है वह उनको अपने धार्मिक और

सांस्कृतिक परिवेश में देखता है। उन्हें जो भी प्रयोग के दौरान दिखाई देता है उसे वे अपने परिवेश के अनुसार जीसस, विरजीन मेरी, मोहम्मद, आकाशीय देवता आदि से संबद्ध करते हैं। कोई दिखाई देने वाली आकृति को कोई अपने पूर्वज बताता है और कोई उड़न तश्तरी की तरह अन्य ग्रहों के लोग बताता है।

डॉ. परसींगर ने पाया मस्तिष्क के अलग–अलग केन्द्र को उत्तेजित करने से व्यक्ति को अलग–अलग प्रकार की अनुभूति होती है। मस्तिष्क के एमिगदला भाग को उत्तेजित करने से व्यक्ति की यौन भावना प्रबल हो जाती है। जब टेम्पोरल लोब के दायें अर्द्धगोलार्द्ध को उत्तेजित किया जाता है तो व्यक्ति को अपने बांयी तरफ किसी असुर किस्म के लोगों की उपस्थिति की नकारात्मक अनुभूति होती है। जब बायें अर्द्धगोलार्द्ध को उत्तेजित किया जाता है तो व्यक्ति को सकारात्मक अनुभूति होती है और उसे देव या भगवान के दर्शन होते हैं। मस्तिष्क के हिपोकेम्पस भाग को उत्तेजित करने पर व्यक्ति को उच्च आनन्द की अनुभूति होती है। डॉ. परसींगर के प्रयोगो मे किसी भी रोगी ने हानिकारक प्रभाव की शिकायत नहीं की ।

डॉ. परसींगर का कहना हैं कि मनुष्य के दिव्य अनुभव उसके मस्तिष्क की उपज है। सामान्यतया दिव्य अनुभवों में व्यक्ति को कुछ नया ज्ञान होता है, नये विचार आते हैं, अन्तर्आत्मा की आवाज सुनाई देती है, विश्वएकता का अनुभव या, आकाश गमन का अनुभव आदि होता है। जब ऐसी घटनाएँ जल्दी–जल्दी होती हैं तो व्यक्ति मान लेता है कि भगवान उसके माध्यम से सच या ज्ञान प्रकट कर रहे हैं। वास्तव में ये सभी अनुभव मस्तिष्क की विशेष अवस्था के कारण ही होते हैं। ऐसे व्यक्ति को या तो कोई सुन्दर चित्र दिखाई देता है या किसी प्रकार के प्राणी दिखाई देते हैं। ये प्राणी कभी–कभी मनुष्य जाति के नहीं होते हैं और दूसरे छोटे प्राणी, दिव्य पुरूष या चमकीले स्वरूप वाले होते हैं। मस्तिष्क की अवस्था के अनुरूप इन सबकी अनुभूति व्यक्ति को आवाज, गंध, दृश्य, या केवल भावना के रूप में हो सकती है। ऐसे अनुभव वास्तविक भी हो सकते हैं या कल्पना और वास्तविकता के मिले–जुले रूप में हो सकते हैं। कभी–कभी ये घटनाएं आकाश में या भूत भविष्य में होती दिखाई देती हैं और कभी–कभी वास्तविक सांसारिक रूप में प्रतीत होती हैं। जैसा भी हो, व्यक्ति को अनुभूति वास्तविक होती है।

डॉ. परसींगर के अनुसार टेम्पोरल लोब की स्थिरता अव्यवस्थित हो जाने के कई कारण हो सकते हैं। जैसे कि जन्म के समय शिशु को चोट, बचपन में कोई दुर्घटना, भयंकर बीमारी, हारमोन की गड़बड़ी, मस्तिष्क में गांठ बन जाना आदि।

उनके अनुसार मस्तिष्क की ऐसी परिस्थितियों के बहुत खतरनाक परिणाम

हो सकते हैं, लोग स्वभाव से ही आतंकवादी हो सकते हैं। उन्होनें अपने विद्यार्थियों से प्रश्न किया "यदि आपको भगवान कहें तो क्या आप दूसरों को मार देंगें?" सात प्रतिशत विद्यार्थियों ने 'हाँ' में जवाब दिया। ये वे विद्यार्थी थे जो अपने आपको धार्मिक मानते थे और धार्मिक कार्यक्रमों में नियमित रूप से भाग लेते थे। ऐसे कल्ट वाले लोग समाज में कैसा विनाश कर सकते हैं यह किसी से छिपा नही हैं।

एक बात यहाँ स्पष्ट करनी है कि जो अनुभव ऊपर बताए गये हैं वे प्रयोग के समय ही होते हैं। सिर पर से हेलमेट हटा लेने के बाद व्यक्ति पुनः अपनी पूर्व अवस्था में आ जाता है। दूसरा यह कि यह आवश्यक नहीं कि ऐसे अनुभव सभी व्यक्तियों को हों। कुछ लोग जो प्रबल मनोवृति के हैं वे ऐसे अनुभव नहीं करते। ऐसे पचास प्रकार के लोगों की पहचान की गई है जिन्हें ये अनुभव आसानी से हो जाते हैं। परन्तु यह भी देखा गया है कि यदि हेलमेट चिकित्सा लम्बे समय के लिए की जाय तो व्यक्ति में आध्यात्मिक वृति पनपने लगती है।

इस प्रकार के अनुभवों में दो बाते हैं एक अनुभव शक्ति की तीव्रता और दूसरी अनुभव की भावना। पहले तीव्रता की बात करें। जैसा कि ऊपर बताया गया है इन अनुभवों में टेम्पोरल लोब के कुछ भाग क्रियाशील रहते हैं। जब इनमें विद्युतीय क्रिया अधिक मात्रा में होती है तो यह क्रिया पास वाले भाग में भी फैल जाती है। तब हमारे अनुभव इस बात पर निर्भर करते हैं कि मस्तिष्क के किस नये भाग में क्रिया प्रारम्भ हुई। यदि यह दृश्य संबंधित भाग में हुई तो हमें कुछ दृश्य दिखाई देते हैं, यदि यह गंध संबंधी भाग में हुई तो हमें कुछ नई गंध का अनुभव होता है। अगर यह क्रिया उस भाग में होती है जहाँ से हम अपने शरीर की ही भीतर से अनुभूति करते हैं तो हम शरीर में कुछ चलता हुआ अनुभव करते हैं या हम अनुभव करते हैं कि हम शरीर से बाहर निकल गये या हवा में उड़ रहे हैं। यदि क्रिया भाषा संबंधी भाग में होती है तो हम कोई आवाज, या संगीत या कोलाहल सुनते हैं और यदि यह क्रिया लम्बी स्मृति वाले भाग में हुई तो व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है कि वह किसी से बात कर रहा है, ऐसे में उसकी भावना भी बातों के अनुसार बनती रहती है।

अब अनुभव के दूसरे पक्ष भावना की बात करें। इस प्रकरण में इस आधार पर कि एमिलगदा का कौन सा केन्द्र, बांया या दांया, अधिक सक्रिय है, अनुभव दो प्रकार के ही होते हैं बुरे या अच्छे। दोनो ही दशा में 'अतिथि अनुभव' होते हैं। यदि एमिलगदा का बायां भाग अधिक सक्रिय है तो अतिथि एक राक्षस, शैतान या भूत के रूप में होता है और यदि एमिलगदा का दायाँ भाग अधिक सक्रिय है तो अतिथि एक देवदूत, देव या भगवान के रूप में हो सकता है। भगवान का अनुभव चरम अवस्था

में ही होता है।

वैज्ञानिकों ने एक और बात कही है। यदि भगवान' हमारा ही भाग है तो प्रार्थना (या साधना) एक ऐसा माध्यम हो सकता है कि हम स्वयं से बात करके स्वयं को 'अतिथि' बना कर बाहर निकालें। जब हम प्रार्थना (या कीर्तन, भजन, भक्ति) करते हैं तो हम अपना ध्यान सकारात्मक विचार और सकारात्मक भावना में विभाजित करते हैं। सकारात्मक विचार दायें हिप्पोकेम्पस में रहते हैं और सकारात्मक भावना बायें एमिलगदा में रहती है अतः प्रार्थना हमारे बाँयें और दाँयें मस्तिष्क की क्रियाओं का संतुलन प्रभावित करती है। संतुलन के अधिक मात्रा में प्रभावित होने पर इसकी संभावना बनती है कि दोनों भागों की क्रिया एक दूसरे से अलग हो जाय और हमें 'अतिथि अनुभव' की अनुभूति हो। यह अनुभूति जब जल्दी–जल्दी होने लग जाती है तो व्यक्ति हर समय परमात्मा की उपस्थिति अनुभव करता है। धीरे–धीरे यह अनुभूति एक उपस्थिति के अनुभव से आगे बढ़ जाती है और परमात्मा एक मार्गदर्शक या वाचिक परामर्शदाता के रूप में अनुभूत होता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति परमात्मा के सामने आत्मसमर्पण कर देता है और उसके अहंकार का क्षय हो जाता है। तब व्यक्ति और परमात्मा के बीच सीमा समाप्त हो जाती है और व्यक्ति स्वयं को परमात्मा के रूप में अनुभव करता है।* डॉ. परसिंगर का कहना है कि हमारे 'स्वयं' से अलग कोई परमात्मा नहीं है।

* यहाँ भगवान का आशय आत्मा से भी हो सकता है।

2.2 जैव प्रकाश

पिछले लगभग अस्सी वर्षों से वैज्ञानिकों को अस्पष्ट रूप से यह ज्ञात था कि जीवित कोशिकाओं से एक प्रकार का अति क्षीण प्रकाश उत्सर्जित होता है। रसियन वैज्ञानिक एलेक्जेण्डर गुरवीत्स ने तीस के दशक में पहली बार यह पाया कि पौधे अल्प मात्रा में प्रकाश का उत्सर्जन करते हैं। 1950 में इस अति मंद प्रकाश को मापने के यंत्र बनाए गये। यह प्रकाश इतना मंद होता है कि उसकी मात्रा 10 किलोमीटर दूर रखी हुई मोमबती के प्रकाश के बराबर है। प्रयोगों से पाया गया कि इस प्रकाश की तीव्रता एक वर्ग सेंटीमीटर में कुछ फोटोन से लेकर कुछ हजार फोटोन प्रति सेकण्ड तक हो सकती है। वैज्ञानिकों ने पाया कि कोशिकाओं से उत्सर्जित होने वाला यह प्रकाश सूर्य प्रकाश से भिन्न प्रकृति का है, उन्होने कोशिका से आने वाले फोटोन को जैव फोटोन नाम दिया। इस प्रकाश का स्पैक्ट्रम भी बहुत

विस्तृत पाया गया।

जीवित कोशिकाओं में यह प्रकाश कैसे उत्पन्न होता है इसके बारे में दो मत थे। पहले मत के अनुसार यह अति मंद और विस्तश्त स्पैक्ट्रम वाला प्रकाश कोशिकाओं में हो रहे जैव रासायनिक क्रियाओं का एक अमहत्वपूर्ण फल है। दूसरे मत के अनुसार यह प्रकाश इस बात का संकेत है कि कोशिकाओं में एक विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र विद्यमान है जो प्रकाश के फोटोन कण ग्रहण भी करता है और उत्सर्जित भी करता है तथा यह जैव विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र कोश्किाओं में हो रही जैविक क्रियाओं के नियंत्रण का माध्यम बनता है। आगे की गई खोजों से प्रमाणित हो गया कि दूसरा मत ही सही है।

हमारी प्राचीन विचारधारा के अनुसार प्रकृति में एक स्वाभाविक संतुलन बना हुआ है। यही तथ्य आधुनिक विज्ञान से भी प्रमाणित होता है और यह संकेत करता है कि विश्व में सभी प्राणी और प्रकृति आपस में सम्बद्ध हैं। हम यह जानते है कि किस प्रकार पश्थ्वी पर सृष्टि सौर ऊर्जा के सहारे चलती है। सौर ऊर्जा चक्र के समानान्तर एक रासायनिक चक्र भी चलता है। धरती पर नाइट्रोजन और कार्बन के चक्र ज्ञात हैं। प्राणियों और प्रकृति के बीच संतुलन एक ब्रह्माण्डीय विशिष्टता है।

वैज्ञानिकों ने पाया कि विभिन्न प्राणियों के शरीर में सौर ऊर्जा का उपयोग आश्चर्यजनक तरीके से अल्पतम अपव्यय के साथ होता है। उनके अनुसार ऐसा होना केवल सामान्य आणविक क्रियाओं के आधार पर समझना कठिन है। संभवतया जीवित प्राणी की कोशिकाओं में सुपर संचालकता के गुण हैं जो ऊर्जा के अपव्यय को रोकते हैं। ऐसा गुण कोशिका क्षेत्र की ऊर्जा में कोहरेन्स गुण विद्यमान होने पर ही संभव है। कोहरेन्स गुण के होने से जीवों मे कई प्रकार की क्षमताऐ संभव हो जाती हैं, जैसे–

(1). ऊर्जा के संचालन और प्रत्यावर्तन में उच्च एफिसियेन्सी जो सौ प्रतिशत तक हो सकती है।

(2). कोशिका के अन्दर हर स्तर पर सूचनाओं का प्रसारण

(3). शरीर की विभिन्न कोशिकाओं के बीच संचार–विनिमय

(4). समान प्रकृति (आवृति) वाले दूसरे प्राणियों से सूचना का आदान प्रदान

(5). विभिन्न आवृति के विद्युत चुम्बकीय संकेतों के द्वारा कोशिकाओं या जीवाश्मों के बीच संकेतों की पहचान और सूचना संप्रेषण आदि।

1979 में जर्मनी के डा. प्रिट्ज अलबर्ट पोप ने जीवन विज्ञान के क्षेत्र में एक नई और क्रांतिकारी खोज को प्रकाशित किया। उन्होने बताया कि जैव कोशिका के

पूर्ण क्रिया कलाप की व्याख्या तापीय समन्वय के आधार पर नहीं की जा सकती। उनकी खोज के अनुसार जीवित कोशिकाएँ जो जैव प्रकाश उत्सर्जित करती है, वह कोहेरेन्ट ही है, उनके गुण लेजर किरणों से मिलते जुलते हैं। जैव प्रकाश का यह कोहेरेन्ट गुण कोशिकाओं में चयापचय क्रिया को नियंत्रित करने में तथा प्रजनन गति को सुचारू रूप से चलाने में सक्षम है। इसी कोहेरेन्ट जैव प्रकाश के कारण एक जीवित कोशिका सुपर संचालक होती है। डा. पोप ने पाया कि जीवित शरीर में एक विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र व्याप्त रहता है जो जैव फोटोन से बना होता है। यह विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र निरन्तर वातावरण से ऊर्जा ग्रहण करता है और साथ ही साथ अपने जैव फोटोन जो विशेष तौर पर अल्ट्रा बैंगनी रेन्ज में होते हैं, को वातावरण में प्रसारित भी करता रहता है। समस्त कोशिकाएं इस विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र में डूबी रहती हैं और उनके बीच सतत् संचार विनिमय होता रहता है। डा. पोप के अनुसार जैव फोटोन का संग्रहण और उत्सर्जन कोशिका के अन्य भाग की तुलना में डी.एन. ए. में अधिक होता है।

अन्य वैज्ञानिकों द्वारा बाद में किए गये प्रयोगों से निश्चित रूप में प्रमाणित हो गया है कि जैव फोटोन में कोहेरेन्ट गुण होते हैं। सभी प्राणी नियमित गति से जैव प्रकाश उत्सर्जित करते हैं जो कुछ फोटोन प्रति कोशिका प्रतिदिन से लेकर कुछ सौ फोटोन प्रति सेकण्ड प्रति सेंटीमीटर तक हो सकते हैं। विश्व की विभिन्न प्रयोगशालाओं में किए गये प्रयोग यह सिद्ध करते हैं कि ये जैव फोटोन जीवाश्म में उपस्थित कोहेरेन्ट विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र द्वारा उत्सर्जित किए जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कोशिका कोहेरेन्ट विद्युत चुम्बकीय संकेत प्रसारित भी करती है और दूसरी कोशिकाओं से संकेत ग्रहण भी करती हैं। कोहेरेन्ट होने के कारण कोशिका से उत्सर्जित होने वाले प्रकाश का वातावरण में ही पूर्णतया क्षय नहीं हो जाता है बल्कि उसका एक अंश वापस शरीर में ही ग्रहण कर लिया जाता है।

प्रयोगों से यह भी पाया गया है कि जैव फोटोन विभिन्न आवृति वाले होते हैं जिनकी उपस्थिति इन्फ्रा रेड से अल्ट्रा वायलेट रेन्ज तक देखी गई है। इनका तरंग दैर्ध्य प्रायः 260 से 800 नेनोमीटर के बीच होता है। हर आवृति पर फोटोन की संख्या लगभग बराबर होती है जबकि सामान्य सूर्य प्रकाश में ऐसा नही होता है। इसका अभिप्राय यह है कि कोशिका के प्रत्येक अणु से यह प्रकाश उत्सर्जित होता है और शरीर में यह सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है और पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। सभी जीवाश्म अपने आसपास 10 मीटर की दूरी तक और 10 दिन से 90 दिन या उससे भी अधिक समय तक जैव फोटोन ऊर्जा का संग्रहण कर सकते हैं जिससे इस

र्जा की कभी भी कमी अनुभव नही हो सकती।

जैव फोटोन का उत्सर्जन जीवाणु से लेकर मनुष्य तक सभी प्राणियों में पाया गया है। इसकी संवेदनशीलता ऐसी है कि इनसे प्राप्त संकेत प्रकाश उत्सर्जित करने वाले अवयव की क्रियाशीलता की स्थिति को भली भाँति प्रकट करते हैं। अतः जैव फोटोन स्थूल अवयव की एक सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। मानव शरीर से उत्सर्जित होने वाले जैव फोटोन के अध्ययन से यह पाया गया है कि –

(1). शरीर के दायें और बायें भाग में समानता है,

(2). शरीर में 14 दिन, 3 माह और 9 माह के समय चक्र विद्यमान है,

(3). शरीर के दायें और बायें भाग में असमानता बीमारी के लक्षण हैं। रूग्ण ऊतक कम मात्रा में जैव फोटोन उत्सर्जित करते हैं, और

(4). शरीर में प्रकाश मार्ग बनें हुए हैं जो विभिन्न अवयवों के बीच शक्ति और सूचना संचार पर नियंत्रण करते हैं।

डा. अलबर्ट पोप के अनुसार जीव विज्ञान को समझने के लिए आणविक विज्ञान एक आवश्यक कदम हो सकता है परन्तु उसकी सम्पूर्ण व्याख्या के लिए यह कदापि सक्षम नहीं है। अणु शरीर की विभिन्न क्रियाओं में भाग लेते हैं परन्तु उनका अपना कोई ज्ञान नही होता। शरीर के एन्जाइम अणुओं का कार्य भी फोटोन जैसे बाहरी कण द्वारा आरम्भ किया जाता है। फोटोन में सीधी गति, चक्र गति, स्पन्दन और विद्युत जैसी शक्ति होती है जिसकी सहायता से वे अणुओं की क्रियाएं आरम्भ कर सकते हैं। जैव फोटोन की क्रियाशील शक्तियाँ पूरे विद्युत चुम्बकीय स्पैक्ट्रम जिसमें रेडियों तरंगें, माइक्रो तरंगें, इन्फ्रारेड तरंगें, दृश्य तरंगें और पराबैंगनी तरंगें आदि शामिल हैं, में व्याप्त हैं। इन्ही फोटोन के माध्यम से हर कोशिका में प्रति सेकण्ड लाखों क्रियाएं संभव होती हैं, जहाँ हर क्रिया के लिए सही मात्रा में, सही जगह और सही समय पर ऊर्जा उपलब्ध हो जाती है। सिद्धान्त रूप में कोहेरेन्ट प्रकाश का एक फोटोन एक कोशिका में 100 करोड क्रियाएं सम्पन्न कर सकता है। फलस्वरूप जीवाश्मों से उत्सर्जित होने वाला जैव फोटोन का अल्प शक्ति वाला प्रकाश भी जीवन के लिए आवश्यक जैव रसायन और जैव वैज्ञानिक क्रियाओं को नियंत्रित करने में सक्षम हो जाता है। डा. पोप का कहना है कि जीव की शारीरिक क्रियाएं जैव फोटोन रूपी कोहेरेन्ट विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र और जैविक पदार्थ के बीच एक विशिष्ट अंतःक्रिया से नियंत्रित हैं। इस विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र और जैविक पदार्थ के बीच एक स्थायी व्यवस्था है जिसके अर्न्तगत विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र यह निर्देशित करता है कि जैविक पदार्थ में कहाँ और कब क्रिया होगी। इस प्रकार जैव भौतिकी

की दृष्टि से शरीर की जटिल क्रियाएं जैव फोटोन द्वारा ही नियंत्रित हैं।

समीक्षा

उपरोक्त वैज्ञानिक शोध परिणाम कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में बहुत महत्वपूर्ण हैं और इनकी सम्पूर्ण व्याख्या होनी चाहिए। यह जानना आवश्यक है कि जो उपलब्धियाँ वैज्ञानिक प्रयोगों से प्राप्त हुई हैं क्या वे जैन मान्यताओं के अनुरूप हैं और यदि हैं तो कर्म सिद्धान्त से इनका क्या संबंध हैं ? प्रथम जैव प्रकाश पर विचार करें।

जैव प्रकाश एक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक खोज है इस खोज से यह ज्ञात हो गया कि किस प्रकार हमारे शरीर की समस्त आणविक क्रियाएँ और उनके द्वारा कोशिकाओं के क्रिया कलाप संपादित होते हैं। यह खोज शरीर संबंधी हमारे ज्ञान में महत्वपूर्ण वृद्धि करती है। जैन मान्यता के अनुसार स्थूल शरीर की क्रियाएँ कर्म से नियंत्रित होती हैं। कर्म द्वारा यह नियंत्रण अध्यवसाय के माध्यम से होता है। अतः अध्यवसाय और जैव प्रकाश का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक हैं। यह तुलनात्मक विवरण नीचे सारणी में दिया गया हैं।

सारणी – अध्यवसाय और जैव प्रकाश का तुलनात्मक विवरण

अध्यवसाय	जैव प्रकाश
कर्मबंध सभी आत्म प्रदेशों में समान रूप से होता है। अत: अध्यवसाय की धारा सभी आत्म प्रदेशों से अर्थात् स्थूल शरीर के प्रत्येक कण से एक समान प्रवाहित होती है।	कोशिका के प्रत्येक अणु से जैव प्रकाश उत्सर्जित होता है और शरीर में यह सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है। सामान्य कोशिकाओं से उत्सर्जित जैव प्रकाश एक समान होता है। रूग्ण कोशिकाओं से यह उत्सर्जन कम होता है।
प्रत्येक आत्म प्रदेश पर सभी प्रकार के कर्मो का बंध होता है अत: हर प्रकृति के कर्म के अनुसार विशिष्ट प्रकार की अध्यवसाय धारा स्थूल शरीर के हर कण से प्रवाहित होती है।	कोशिकाओं में उत्सर्जित जैव फोटोन विभिन्न आवृति वाले होते है। हर आवृति पर फोटोन की संख्या लगभग बराबर होती है।
अध्यवसाय सभी प्राणियों में होता है।	जैव फोटोन का उत्सर्जन जीवाणु से लेकर मनुष्य तक सभी प्राणियों में पाया गया है।

ध्यवसाय ज्ञान का स्रोत है आत्मा ज्ञान अध्यवसाय के माध्यम से सूक्ष्म और स्थूल शरीर में प्रगट होता है।	अणुओं का अपना ज्ञान नही होता। शरीर की समस्त आणविक क्रियाओं का संचालन और नियंत्रण जैव फोटोन द्वारा किया जाता है। जैव फोटोन ज्ञानात्मक है। इसके द्वारा कोशिकाओं के बीच सतत् संकेतों का आदान-प्रदान होता है।
कार्मण वर्गणाओं का कार्मण शरीर से श्लिष्ट होना और कार्मण शरीर से अलग होना सामान्यतया एक निरन्तर प्रक्रिया है।	जीवित शरीर में विद्यमान विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र निरन्तर वातावरण से ऊर्जा ग्रहण करता है और साथ ही साथ जैव फोटोन वातावरण को प्रसारित करता रहता है।
अध्यवसाय कार्मण शरीर से प्रवाहित होते है। कार्मण शरीर से प्राप्त निर्देशानुसार अध्यवसाय अपना कार्य सम्पादन करते है।	जैव फोटोन का स्रोत कोहेरेन्ट विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र है। इस विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र के निर्देशानुसार ही जैव फोटोन जैविक पदार्थ में क्रिया संपादित करते है।

उपरोक्त तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अध्यवसाय और जैव प्रकाश के गुण मिलते जुलते हैं और इसलिए अध्यवसाय को वैज्ञानिक भाषा में जैव प्रकाश माना जा सकता है। जैव प्रकाश लगभग वही कार्य करता है जो अध्यवसाय से अपेक्षित है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि अध्यवसाय का स्रोत कार्मण शरीर और जैव प्रकाश का स्रोत कोशिकाओं में विद्यमान कोहेरेन्ट विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र भी एक ही वस्तु के दो नाम हैं। यदि यह मान्यता सही है तो मानना पड़ेगा कि वैज्ञानिकों ने कार्मण शरीर की खोज कर ली है और यह कार्मण शरीर एक कोहेरेन्ट विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र के रूप में है जिसमें समस्त कोशिकाएँ डूबी रहती हैं। यह एक अति महत्वपूर्ण निष्कर्ष हैं। इस निष्कर्ष से कई महत्वपूर्ण तथ्य प्रकट होते हैं। जैसे:–

क) जैन दर्शन पूर्णतया वैज्ञानिक है। आत्मा और शरीर संबंधी जैन मान्यताएँ वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है, अतः तर्कसम्मत है। इसमें कपोल कल्पानाओं का कोई स्थान नहीं हैं।

ख) जैन मान्यताओं के अनुसार अध्यवसाय और लेश्या तरंग रूप है। ये मान्यताएँ विज्ञान द्वारा प्रमाणित हो गई हैं। अध्यवसाय और लेश्या तरंग रूप होते हुए भी भिन्न प्रकृति के हैं। अध्यवसाय के स्पंदन अति सूक्ष्म माने गए है और लेश्या की तरंग प्रवृति

ऐसी है कि वह रंगो से प्रभावित होती है।

ग) कार्मण शरीर कोहेरेन्ट विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र के रूप में है। तैजस शरीर भी विद्युत चुम्बकीय माना गया है पर वह कार्मण शरीर से भिन्न प्रकृति का है तैजस शरीर का विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र कोहेरेन्ट नहीं हैं। भिन्न प्रकृति के होते हुए भी कार्मण शरीर और तैजस शरीर में परस्पर आकर्षण बना रहता है और दोनों मुक्ति अवस्था तक अलग नहीं होते।

घ) जैव प्रकाश की खोज और उसका शारीरिक क्रियाओं पर प्रभाव का अध्ययन महत्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रयोग हैं। इस वैज्ञानिक कार्य को जैन मान्यताओं से एक नई दिशा मिल सकती है। जैन दर्शन में कर्म बंध, कर्म निर्जरा, कर्म विपाक, कर्म फल, कर्म बंध के कारण आदि विषयों पर महत्वपूर्ण और विस्तृत जानकारी उपलब्ध है। इस जानकारी का लाभ वैज्ञानिकों को मिल सकता है और इस प्रकार जैन दर्शन विज्ञान का मार्ग दर्शन करने में सक्षम हैं।

च) यह मानने पर कि विज्ञान ने कार्मण शरीर को खोज लिया है, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि विज्ञान कार्मण शरीर में हेर फेर भी कर सकता है। अभी तो ऐसी संभावना नहीं है परन्तु भविष्य में क्या होगा, समय ही बतायेगा।

जैन दर्शन किस प्रकार विज्ञान की सहायता कर सकता है इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं। विज्ञान के अनुसार कोशिकाओं के विभाजन से जीवन चलता है। यदि कोशिका का विभाजन होना बन्द हो जाय तो प्राणी की मृत्यु हो जायगी। परन्तु वैज्ञानिको को यह निश्चित तौर पर नहीं मालूम कि कोशिकाओं के विभाजन का कारण क्या है? जैन दर्शन के अनुसार प्राणी की आयु आयुष्य कर्म से निर्धारित होती हैं आयुष्य कर्म की समाप्ति पर प्राणी की मृत्यु हो जाती है। अतः यह माना जा सकता है कि आयुष्य कर्म से कोशिका का विभाजन होता है। जब तक आयुष्य कर्म शेष रहते हैं, कोशिका का विभाजन होता रहता है, आयुष्य कर्म की समाप्ति पर यह विभाजन बंद हो जाता है और प्राणी की मृत्यु हो जाती है। आयुष्य कर्म कार्मण शरीर का भाग होने के नाते कोहेरेन्ट विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र का भाग है और एक विशिष्ट प्रकार के जैव फोटोन का उत्सर्जन करता है जो कोशिका के विभाजंन के लिए जिम्मेदार हैं। जब तक आयुष्य कर्म विद्यमान है तब तक कोशिका का विभाजन करने वाले इन जैव फोटोन का उत्सर्जन होता रहता है और जीवन चलता रहता है। दूसरा उदाहरण शरीर निर्माण का लें। विज्ञान के अनुसार जीन्स हमारे शरीर का नियंत्रण निर्माण करते हैं। जैसे जीन्स होते हैं, वैसे ही शरीर का निर्माण होता है। सभी जाति के प्राणियों के जीन्स भिन्न होते हैं। और इसलिए उनके

र भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। जैन दर्शन के अनुसार नाम कर्म के अनुसार शरीर का निर्माण होता है। नामकर्म की बयालिस पिंड प्रकृतियाँ हैं जो नाना प्रकार के शरीरों की रचना करती हैं और शरीर, संस्थान, संहनन, वर्ण, गंध आदि विशेषताओं का निर्धारण करती हैं। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार जो कार्य नाम कर्म का है वही कार्य विज्ञान के अनुसार डी.एन.ए. क्रोमोसोम, जीन्स आदि का है। इन अवयवों का कार्य भी अन्ततः जैव फोटोन की क्रियाओं पर निर्भर करता है। जैन दर्शन में नाम कर्म का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। यह माना जा सकता है कि भिन्न-भिन्न नाम कर्म के अनुसार विशिष्ट प्रकार के जैव फोटोन का उत्सर्जन होता है जो डी.एन.ए., क्रोमोसोम और जीन्स के कार्य का नियमन और नियंत्रण करते हैं। वैज्ञानिक शोध से ज्ञात हुआ है कि हर प्राणी के डी.एन.ए. में कुछ विशिष्टता होती है, कोई दो व्यक्ति के डी.एन.ए. एक समान नहीं होते। इसीलिए डी.एन.ए. परीक्षा से व्यक्ति की पहचान की जा सकती है। जैन मान्यता के अनुसार भी हर व्यक्ति के नाम कर्म अलग होते हैं, कोई दो व्यक्ति के नाम कर्म एक समान नहीं होते।

अतः यह स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति में जैव फोटोन की क्रियाओं में भिन्नता होती है और इस क्रिया के सम्पूर्ण निर्देश कार्मण शरीर यानि कोहेरेन्ट विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र से प्राप्त होते हैं। जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति पुरूषार्थ और साधना से अपने कार्मण शरीर में परिवर्तन कर सकता है और उसके अनुरूप ही व्यक्ति के डी.एन.ए. और जीन्स में परिवर्तन घटित होना चाहिए। वैज्ञानिक यह तो जानते हैं कि व्यक्ति के डी.एन.ए. में परिवर्तन होता है परन्तु वे यह नहीं जानते कि यह परिवर्तन क्यों होता है। जैन दर्शन इस परिवर्तन की व्याख्या करने में सक्षम है।

तीसरा उदाहरण शरीर की रूग्णता का लें। वैज्ञानिकों ने पाया कि रूग्ण ऊत्तक कम मात्रा में जैव फोटोन का उर्त्सन करते हैं। या यह कहा जा सकता है कि जैव फोटोन उत्सर्जन की कमी से ऊतक रूग्ण हो जाते हैं। जैन दर्शन के अनुसार असातावेदनीय कर्म के उदय से व्यक्ति को वेदना यानि रोग होता है। असातावेदनीय कर्म के उदय से संभवतया जैव फोटोन के उत्सर्जन में कमी हो जाती है और ऊत्तक रूग्ण हो जाता है।

यहाँ केवल कुछ उदाहरण यह दिखाने के लिए दिए गये हैं कि किस प्रकार कर्म सिद्धान्त वैज्ञानिकों को शारीरिक प्रक्रियाएँ समझने में सहायता कर सकता है। इस प्रकार के अध्ययन से शरीर ज्ञानिक कई ऐसी समस्याओं का समाधान पा सकते हैं जहाँ विज्ञान अभी तक नहीं पहुँच पाया है।

अब मस्तिष्क पर विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र के प्रभाव के प्रकरण पर विचार करें।

इस प्रकरण में व्यक्ति को जो अनुभूति होती है वह वास्तविक है परन्तु अस्थाई है। जब मस्तिष्क पर से हेलमेट हटा लिया जाता है तो व्यक्ति अपनी पूर्ववत् अवस्था में आ जाता है। जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में इस प्रयोग को निम्न प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है –

क) विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र में परिवर्तन से व्यक्ति के स्थूल चित्त में परिवर्तन हुआ। चूंकि चित्त आचरण और व्यवहार को परिष्कृत करने में समर्थ है अतः इस परिवर्तन से व्यक्ति के आन्तरिक व्यवहार में ऐसा परिवर्तन हुआ कि उसे एक नये प्रकार का अनुभव होने लगा।

ख) सम्भवतया व्यक्ति के उन अध्यवसाय में जो भावों का निर्माण करते हैं मैं भी कुछ अस्थाई परिवर्तन हुआ अध्यवसाय को सूक्ष्म चित्त भी माना गया है। जैन दर्शन के अनुसार अध्यवसाय और पुरूषार्थ से जागृत कर्मों में परिवर्तन हो जाता है। यह अनुमान है कि भावों का निर्माण करने वाले जागृत कर्म तैजस शरीर में निवास करते हैं। विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र में परिवर्तन के फलस्वरूप होने वाले अध्यवसाय परिवर्तन से इन जागृत कर्मों में परिवर्तन हुआ और इस परिवर्तन के प्रभाव से मनुष्य के भावों में अस्थाई परिवर्तन हुआ।

यह ध्यान रखने योग्य बात है कि स्थूल चित में जो स्मृतियाँ और संस्कार अंकित हैं वे कार्मण शरीर में रहने वाले स्मृति और संस्कार की ही प्रतिलिपि है। जब जीव नया जन्म लेता है वे स्मृतियाँ कार्मण शरीर से स्थूल चित्त में उतर जाती हैं। स्थूल चित्त की ये स्मृतियाँ और संस्कार ही व्यक्ति के भाव, विचार, और व्यवहार के आधार बनते हैं। सामान्यतया वे स्मृतियाँ और संस्कार जो इस पर्याय के अनुकूल हैं जागृत अवस्था में रहती हैं और तदनुसार व्यक्ति के भाव, विचार और व्यवहार होते हैं। शेष स्मृतियाँ और संस्कार सुसुप्त अवस्था में रहते हैं। वर्तमान प्रयोग में जब मस्तिष्क के विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र में कृत्रिम रूप से परिवर्तन किया गया तो इन शेष स्मृतियों और संस्कारों में से भी कुछ स्मृतियाँ और संस्कार जागृत हो गये और व्यक्ति को एक नई प्रकार की अनुभूति होने लग गई। यह प्रभाव तभी तक रहा जब तक कृत्रिम विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र बना रहा, हेलमेट के हटा लेने पर ये अस्थाई रूप से जागृत स्मृतियाँ और संस्कार पुनः सुसुप्त अवस्था में चले गये और व्यक्ति का अनुभव और व्यवहार पूर्ववत् हो गया।

यहाँ इस बात का विशेष उल्लेख करना है कि अध्यवसाय रूपी सूक्ष्म चित्त में जो अस्थाई परिवर्तन हुआ उससे कार्मण शरीर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यही कारण है कि हेलमेट हटा लेने पर कार्मण शरीर से आने वाले अध्यवसाय पुनः पूर्ववत्

ए और व्यक्ति के भाव, विचार, व्यवहार भी पूर्ववत् हो गए। यह इस बात का है कि कृत्रिम भौतिक साधनों से कार्मण शरीर में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। ऐसे परिवर्तन स्थूल चित्त और सूक्ष्म चित्त तक ही सीमित रहते हैं और अस्थाई होते हैं। मनुष्य के भावों, विचारों और व्यवहार में स्थाई परिवर्तन कार्मण शरीर में परिवर्तन से ही सम्भव है और अभी तक तो यह विज्ञान की सामर्थ्य के बाहर है। जैन दर्शन में कार्मण शरीर में परिवर्तन का साधन अध्यात्म और साधना माना गया है। यही एक मार्ग है जिससे मनुष्य अपने पूर्व कर्म की निर्जरा और क्षय कर सकता है।

उपरोक्त विवरण से सूक्ष्म शरीर का जो चित्र उभर कर आता है वह इस प्रकार है। सूक्ष्म शरीर, कार्मण शरीर और तैजस शरीर से बना है और ये दोनों ही शरीर विद्युत चुम्बकीय हैं। कार्मण शरीर का विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र कोहेरेन्ट है और तैजस शरीर से भिन्न है। दोनों शरीरों में परस्पर आकर्षण रहता है और दोनों कभी अलग नहीं होते जब तक कि कार्मण शरीर का क्षय नही हो जाता। सूक्ष्म शरीर प्रकाश रूप है। आत्मा अनादि काल से इस सूक्ष्म प्रकाश शरीर में कैद हैं। स्थूल वस्तुओं का संग्रह करने के लिए बर्तन की आवश्यकता होती है परन्तु वायु को बारीक गुब्बारे में भी भरा जो सकता है। आत्मा अमूर्त है और यह प्रकाश रूप शरीर में भी कैद हो जाता है। इस रूप में आत्मा अशुद्ध अवस्था में होती है। आत्मा स्वभाव से शुद्ध होना चाहती है परन्तु इसके लिए उसे स्थूल शरीर धारण करना पड़ता है। स्थूल शरीर के माध्यम से ही आत्मा उन प्रवृत्तियों को कर सकता है जिनसे कार्मण शरीर में जमा कर्मों का क्षय हो सके।

सामान्य प्राणी में कर्मो के क्षय की प्रक्रिया में नवीन कर्मों का बंध हो जाता है और इस प्रकार कर्मों का क्षय एक श्रम साध्य और समय साध्य कार्य है। प्रकाश शरीर में कैद प्रत्येक प्राणी की जीवात्मा कर्मों के क्षय की इस यात्रा में असंख्य स्थूल शरीर धारण कर चुका है और तब तक करता रहेगा जब तक एक भी कर्म शेष है।

स्थूल शरीर की क्रियाएँ सूक्ष्म शरीर द्वारा नियंत्रित हैं और इसलिए सूक्ष्म शरीर के कार्य को समझना बहुत महत्वपूर्ण है। वैज्ञानिक शोध से सूक्ष्म शरीर के बारे में हमारी समझ में वृद्धि हुई हैं और यह हमारी आध्यात्मिक प्रगति में सहायक होगी ऐसा माना जा सकता है।

बौद्धधर्म में कर्म की अवधारणा: एक नूतन दृष्टि

डॉ. रमानाथ पाण्डेय
रिसर्च ऑफिसर, आरियण्टल इन्स्टीट्यूट,
महाराजासयाजीराव विश्व विद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

बौद्धधर्म में मनुष्य के जीवन के भविष्य को निर्धारित करने में सर्वाधिक प्रभाव कर्म को माना गया है। यद्यपि मानव जीवन में कर्मों के विशिष्ट योगदान के संदर्भ में अन्य भारतीय दर्शनों में भी यही विचार प्रस्तुत किया गया है तथापि बौद्ध धर्म में क्योंकि नित्य आत्मा के अस्तित्व को नहीं माना गया है अतः यहाँ कर्म–फलों के अन्य जन्मों में संक्रमित होने के संबंध में कुछ भिन्न प्रकार का ही तर्क उपस्थित किया जाता है। बौद्ध–कर्मवाद मानवजीवन की वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में भी व्यक्तिपरक, सामाजिक व मनोवैज्ञानिक पक्षों की व्याख्या पर विशेष बल देता है। वास्तव में बौद्ध कर्मवाद का मूल स्वरूप पूर्णतया मनोवैज्ञानिक ही है क्योंकि यहाँ मानव की मनोगत अवस्थाओं एवं प्रेरणाओं को ही सर्वाधिक महत्व दिया गया है। व्यक्ति की मनोवृति या भावनायें ही कर्म करने में मूलरूप से कार्य करती हैं। कर्म के मूलतः दो प्रकार हैं–चित्तकर्म तथा चैतसिक कर्म, तथापि चित्त अर्थात् मानसिक कर्म को ही मुख्य कहा गया है। बौद्धकर्मवाद में अनासक्ति, त्याग व अपरिग्रह की शिक्षाओं का भी कर्म के साथ गहरा संबंध है। संपूर्ण जगत् के विविध विषयों का उपभोग करके भी तृष्णा से अभिभूत व्यक्ति की इच्छाओं की कहीं परिसमाप्ति नहीं होती। तृष्णा के कारण ही व्यक्ति कर्म करता है जो शरीररूपी गृह का निर्माण करता है। इसी कारण व्यक्ति इस संसार के आवागमन के चक्कर में फँसता रहता है जिससे समस्त दुःखों की उत्पत्ति होती है। बार–बार जन्म लेना दुःखदायी है। कर्मसिद्धांत को भली प्रकार से समझकर आसक्ति रहित होकर कुशल कर्मों का सावधानीपूर्वक संपादन करने से व्यक्ति का चित्त संस्कार रहित हो सकता है तथा तृष्णाओं का विनाश हो सकता है और दुःख से व्यक्ति को स्वयं ही छुटकारा मिल सकता है। अतः बौद्धकर्मवाद के अनुसार व्यक्ति को मात्र सदर्थ के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये, उपयोग करना चाहिए तथा अप्रमादादि व आत्मसंयमी बनकर जीवन में कर्म करने चाहिये। मज्झिमनिकाय में कहा गया है कि कर्म, सम्यक्–दृष्टि, धर्म, शील व उत्तम आजीविका द्वारा, न कि

धन द्वारा, जीवों की शुद्धि होती है।

पुनर्जन्म में विश्वास करने वाले अन्य भारतीय दर्शनों के समान ही यद्यपि बौद्ध का धर्म भी पुनर्जन्म को मानता है तथापि वह आत्मा को नहीं मानता और न ही ईश्वर को जीवलोक व भाजन लोक की विचित्रता का कारण मानता है। बौद्ध धर्म में लोक–वैचित्र्य का कारण कर्म को ही स्वीकार किया गया है जो सत्वों के कर्म से उत्पन्न होता है। अतः बुद्ध ने आत्मा–परमात्मा, स्वर्ग–नरक, ईश्वर व भूत–पिशाच के अस्तित्व को महत्व न देकर मानवतावादी एवं विज्ञानवादी विचारधारा का समर्थन किया है। बौद्धकर्मवाद में "प्रतीत्य–समुत्पाद" का विशिष्ट महत्व है क्योंकि प्रतीत्य–समुत्पाद को भी कर्म कहा गया है और कर्मवाद के साथ इसका अनिवार्य संबंध है। कर्म–कर्मफल को भी कहते हैं–उदाहरणार्थ कहा जाता है कि व्यक्ति का शुभ या अशुभ कर्म उसकी प्रतीक्षा करता है। पुण्य–अपुण्य के विपाक के विषय में कर्म से हेतु–फल–व्यवस्था का अभिप्राय है। सत्वों के कर्म समुदाय ही लोक–धातु के विवृत्त होने में सहायक है। महायान परंपरा के अनुसार लोक की उत्पत्ति कर्म से है। बौद्धकर्मवाद में मात्र चेतना व कर्म ही सकल कर्म नहीं हैं। अपितु कर्म के परिणाम का भी विचार आवश्यक है। बौद्धकर्मवाद के अनुसार कर्म यद्यपि स्वकीय है अर्थात् कर्ता ही कर्म के फल को भोगता है किंतु पालि–निकाय में भी पुण्य–परिणामना (प्राप्तिदान) है। हम मात्र पुण्य में ही दूसरों को सम्मिलित कर सकते हैं पाप में नहीं।

व्यक्तिपरक व्याख्या:

बौद्धकर्मवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ कर्म के विभिन्न पक्षों की व्यक्तिपरक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है क्योंकि व्यक्ति जो भी कर्म करता है उसमें उसकी स्वयं की इच्छा (तृष्णा) ही मुख्य कारण हुआ करती है। इच्छा शक्ति के अभाव में तो व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। जन्म ग्रहण करने में भी व्यक्ति की इच्छा ही मूल कारण है। बौद्ध–सिद्धांत में संपूर्ण जगत् को दुःखमय माना गया है और दुःखों से छुटकारा पाने के लिये सम्यक् मार्ग (आष्टाङ्गिक मार्ग) का अनुसरण करने के लिए कहा गया है किंतु यह मार्ग इतना सरल नहीं हैं। व्यक्ति अपने दुःख के प्रति सावधान रहकर उसके उचित कारणों को भलीभाँति समझ लेता है और इन कारणों को नष्ट करने के उद्देश्य से दुःख दूर करने वाले मार्ग पर चलता है तभी वह दुःख से मुक्त हो पाता है नहीं तो बार–बार आवागमन के चक्कर में पड़ता है और जन्म लेता है। यही बार–बार जन्म लेना ही सबसे बड़ा दुःख है। जब तक व्यक्ति की इच्छा शेष रहती है तब तक जन्म होता रहता है किन्तु इच्छा की परिसमाप्ति हो जाने पर

जन्म के लिए कोई कारण नहीं रहता अतः जन्म नहीं होता। इस प्रकार व्यक्ति के जन्म के विभिन्न कारणों के मूल में उसकी अपनी इच्छा या तृष्णा ही मुख्य कारण है। अपने सामान्य जीवन में भी हम देखते हैं कि व्यक्ति को विविध प्रकार की वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा होती है, प्राप्ति पर प्रसन्नता होती है, किंतु पुनः उस प्राप्ति के रक्षा का दुःख या उसे खो जाने का दुःख अथवा और अधिक पाने का दुःख बना रहता है। अतः शुभ या अशुभ दोनों ही परिस्थितियों मे व्यक्ति के जीवन में तनाव बना रहता है। बौद्धकर्मवाद की दृष्टि से व्यक्ति के इस तनाव को समाप्त करने का एकमात्र उपाय है इच्छा की परिसमाप्ति। वास्तव में लोभ, द्वेष मोह, कामराग, व्यापाद, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य एवं अविद्या आदि दोषों के कारण ही व्यक्ति को बारंबार जन्म लेना पड़ता है। बौद्ध साधना की दृष्टि से उक्त दोषों को दूर करने के लिए सम्यक् मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है यही बौद्धकर्म का चतुर्थ "आर्यसत्य" दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा है जिसे आष्टांगिक मार्ग भी कहा गया है। इस मार्ग के आठों अंग कुशल कर्म में समाविष्ट हैं। बुद्ध ने इन्हीं को संक्षेप में कहा है कि दो ही बातें सिखाता हूँ, दुःख तथा दुःख से मुक्ति। इस मार्ग में शील, समाधि एवं प्रज्ञा की भावना अत्यंत आवश्यक है। संयुक्तनिकाय के अनुसार जो व्यक्ति हमेशा शील–सम्पन्न है, जो प्रज्ञावान है, जो सुष्ठु प्रकार से समाहित अर्थात् समाधिस्थ है, जो अशुभ के नाश के लिए और शुभ की प्राप्ति के लिए उद्योग करता है और जो दृढ़ संकल्प वाला है, वह संसार रूपी दुस्तर ओघ को पार करता है। इस मार्ग का अनित्यवाद, दुःखवाद तथा अनात्मवाद के माध्यम से अनुसरण किया जा सकता है। अनित्यादि को विसुद्धिमग्ग में अनुलोम ज्ञान कहा गया है। यह ज्ञान चित्त को आकर्षित या बाँधने वाले विषयों से दूर करने में सहायक होता है। स्वर्ग के प्रति लालसा, सांसारिक भोगविलासों को पाने की इच्छा तथा इस शरीर से मोह को दूर करने में अनुलोम ज्ञान अत्यंत सहायक सिद्ध होता है और व्यक्ति को सम्यक् मार्ग पर ले जाता है। इसके बाद मार्ग पर सावधानीपूर्वक चलना तथा उद्देश्य का पूरा करना परम उत्साही व्यक्ति के उपर निर्भर है। बौद्धकर्मवाद के अनुसार व्यक्ति की इच्छा का प्रणाश हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता। लोभ, द्वेषादि दसों प्रकार के दोषों को व्यक्ति ने एक ही बार की दौड़ में पार कर लिया तो वह "अर्हत्" हो जाता है, मुक्त हो जाता है। किंतु एक बार में किसी कारणवश जो मुक्त नहीं हो सका उसके लिए और भी अवसर हैं। वह धीरे–धीरे मार्ग का अनुसरण कर मुक्त हो सकता है। जो व्यक्ति प्रथम बार के प्रयत्न में लोभ, द्वेष व मोह का परित्याग कर लेता है वह स्रोतापन्न होता है अर्थात् वह उस स्रोत की प्रवाह में अपने को डाल देता है जिसमे पड़कर उसे कभी न कभी मुक्त होना

ी है। ऐसे व्यक्ति गंभीर प्रज्ञा द्वारा उपदिष्ट सुदेशित आर्यसत्यों की जो भावना करते उन्हें आठवीं बार जन्म नहीं लेना पड़ता चाहे वे कितना भी प्रमाद क्यों न करे। जो मार्ग पर इससे भी आगे बढ़ते हैं तथा कामराग व व्यापाद दोषों को यदि पूरी तरह से दूर नहीं कर पाते किंतु उन्हे बहुत कुछ दुर्बल कर देते हैं, उन्हें इस संसार मे एक बार से अधिक नहीं आना पड़ता इसलिये इन्हें सकदागामी (सकृदागामी) कहते हैं। और भी इससे आगे बढ़ते हुए जो कामराग तथा व्यापाद को सर्वथा निर्मूल कर देते हैं उन्हें इस संसार में आना नहीं पड़ता ये "अनागामी" कहे जाते हैं। वे शुद्धावास देवों में उत्पन्न होते हैं और वहीं से परिनिर्वृत्त (मुक्त) हो जाते हैं। जो इससे भी आगे बढ़ते हैं तथा रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य एवं अविद्या दोषों को दूर कर लेते हैं वे "अर्हत् होते हैं–मुक्त होते हैं। स्त्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी तथा अर्हत् को आर्य कहते हैं और इसके मार्ग को आर्यमार्ग। इन सबके अतिरिक्त जो सामान्य लोग हैं उन्हें "पृथक्जन" कहा जाता है। पृथक्जनों मे जो आर्यों तथा आर्यमार्ग के प्रति श्रद्धालु होते हैं उन्हें कल्याण–पृथक्जन कहा जाता है। इस प्रकार बुद्ध ने दुःख से छुटकारा पाने के लिए सम्यक् मार्ग के अनुसरण पर बल दिया है। कुशल कर्मों में आष्टांगिक मार्ग तथा शील के रूप में उपदिष्ट स्मृतिप्रस्थान, सम्यक्प्रस्थान आदि 36 बोधिपक्षीय धर्म का भी समावेश है। महापुरूष के सुप्रतिष्ठिति पाद इत्यादि 32 लक्षण भी कुशल कर्मो के कारण ही प्राप्त होते हैं।

कुशल कर्मों के द्वारा ही व्यक्ति जीवन में उन्नति प्राप्त कर सकता है। बुद्ध ने इन कर्मों के विषय में जो कुछ भी कहा है वे तथा उपासकों व भिक्षुओं के अन्य सभी शील सदाचार कुशल वर्गों की कोटि में आते हैं। बोधिसत्व की विचारधारा भी कुशल कर्मो पर आधारित है जिसके अनुसार शील, दान, उपेक्षा आदि दस पारमिता को बोधिसत्व की अवस्था में रहकर उन्हें पूरी करने पर ही बोधिसत्व बुद्ध कहलाए। कुशलाकुशल कर्म के आधार पर ही बुद्ध ने स्वयं को अक्रियवादी व क्रियावादी कहा है। अकुशल कर्म न करने के कारण अक्रियवादी तथा कुशल कर्म करने के कारण क्रियावादी कहा है। बुद्ध कर्म सिद्धांत को मानते थे तथा प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात् कार्यकारण नियम को भवचक्र नाम देकर उसे कर्मचक्र का पर्याय बतलाया और स्वयं को अनिश्वरवादी बतलाया। कर्म (श्रम) को ही व्यक्ति की अमीरी या गरीबी का कारण माना है। राजा व प्रजा की स्थिति भी कुशल कर्मों के आधार पर सुखी या दुःखी होना है। विनय के संदर्भ में भी कुशलाकुशल कर्मों का विधि–निषेध कर्मवाद पर ही आधारित है। विनयपिटक में उल्लिखित नियमों व निहित कर्मों का ठीक प्रकार से पालन करने को कुशल धर्मों का आदि (आरंभ), उनका मुखस्वरूप व उन सबमें प्रमुख

कहा गया है। कर्म के कारण ही पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया है। संबोधि के पश्चात् बुद्ध ने कहा था कि कर्म ही शरीररूपी गृह का निर्माण करने वाला है। इसी कारण व्यक्ति इस संसार के आवागमन के चक्कर में फँसता रहता है जिससे समस्त दुःखों की उत्पत्ति होती है। अतः बार–बार जन्म लेना दुःखदायी है। कर्मसिद्धांत के स्वरूप को भलीप्रकार से समझकर आसक्ति रहित होकर कुशल कर्मों का सावधानीपूर्वक संपादन करने से व्यक्ति का चित्त संस्कार रहित हो सकता है तथा तृष्णाओं का विनाश हो सकता है जिससे व्यक्ति दुःख से स्वयं ही मुक्ति पा सकता है। परिनिर्वाण के पश्चात् बौद्ध–संघ का किसी व्यक्ति विशेष को नेता नहीं बनाकर "धम्मदायाद" के ऊपर संघ को छोड़ा जो उनकी धर्म के रूप मे कर्म पर गहरी आस्था सिद्ध करती है। उनके अनुसार वे मात्र मार्गदाता है, मोक्षदाता नहीं। कर्मों से ही उसके विविध प्रकार के विषय प्रवर्तित होते हैं तथा विपाक भी स्वयं कर्म से ही संभव है, कर्म से पुनर्जन्म होता है– इसी प्रकार संसार प्रवर्तित होता है। इस प्रकार स्पष्ट है बौद्धकर्मवाद में जीवलोक व भाजन–लोक (जगत्) में जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है उसका कारण ईश्वर नहीं अपितु कर्म है। कर्म के अभाव में विचित्रपूर्ण विभिन्न अवस्थायें व विविध प्रकार की गतिविधियाँ कदापि नहीं बन सकती। क्या कारण या क्या प्रत्यय है कि मनुष्य होते हुए भी मनुष्य रूपवालों में हीनता तथा उत्तमता दिखालायी पड़ती है। कोई अल्पायु, दीर्घायु, बहुरोगी, अल्परोगी, कुरूप, रूपवान, असमर्थ, समर्थ, गरीब, अमीर, मूर्ख, बुद्धिमान् तथा प्रज्ञावान् मनुष्य दिखालायी पड़ते हैं। वास्तव में सभी प्राणी कर्मस्वकीय, कर्मदायाद, कर्मयोनि, कर्मबंधु व कर्मप्रतिशरण हैं। बौद्धकर्मवाद के अनुसार प्राणातिपात, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, अभिमान आदि पाप कर्मों से व्यक्ति के चित्त लिप्त होने के कारण वह मृत्यु के पश्चात् काया का परित्याग कर दुर्गति में उत्पन्न होता है और उक्त कर्मों के विपरीत अलोभ, अद्वेष, अक्रोधादि शुभकर्मों का अनुसरण करने पर सुगति में जन्म लेता है।

व्यक्ति के कर्मों के आधार पर बुद्ध यह जान जाते थे कि वह किस योनि में जन्म ग्रहण करेगा। कर्म के सम्यक् स्वरूप को जानकर ही बुद्ध ने कहा कि भिक्षुओं! क्रोध, लोभ, मोह द्वेषादि का परित्याग करने पर इस आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाओगे। कर्म आधार पर ही व्यक्ति ब्राह्मण बनता है न कि जन्म के आधार पर। जन्म से यदि शूद्र भी हो तो वह निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है। बुद्ध के अनुसार कर्म ही उद्धार कर सकता है उपदेश नहीं। इससे स्पष्ट है कि बौद्धकर्मवाद अत्यंत व्यावहारिक है जिसमें पूजा, प्रार्थना आदि से अधिक महत्व व्यक्ति के स्वयं के कर्म को दिया गया है। व्यक्ति कर्म से ही अपना उद्धार कर सकता है पूजा, अर्चनादि

नहीं।

उपर्युक्त समस्त विवेचन का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति को कुशल कर्म द्वारा अपने वर्तमान व भविष्य के जीवन को संवारने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि अकुशल कर्म (पाप–कर्म) धीरे–धीरे वृद्धि को प्राप्त होता है। बुरे कर्म आरंभ में अच्छे लगते हैं। जब तक पापकर्मों का परिपाक नहीं होता तब तक व्यक्ति उसे मधु के समान मानता रहता है ओर दुःखी होता है। ऐसे व्यक्ति लोक व परलोक दोनों में ही संताप को प्राप्त करते हैं उन्हें शांति नहीं मिलती और अंत में नरक में जाते हैं। अतः मनुष्य को कभी भी अनुचित मार्ग पर नहीं चलना चाहिये। सांसारिक भोगविलास की वस्तुयें अनित्य हैं यह सोचकर शुभकर्मों को करना चाहिये। शील में प्रतिष्ठित हो जो समाधि एवं विपश्यना की भावना करता है वह मनुष्य तृष्णारूपी जटा समूह को काट डालता है। इस कथन का तात्पर्य भी यही है कि व्यक्ति को अच्छे आचरण करने चाहिए क्योंकि अच्छे आचरण से ही अच्छे विचार उत्पन्न होते हैं और तभी कुशल कर्मों में व्यक्ति की प्रवृति होती है जिससे दुःखोत्पादक वस्तुओं से लगाव समाप्त हो जाता है।

बौद्धकर्मवाद का मनोवैज्ञानिक स्वरूपः

बौद्धकर्मसिद्धांत का मूलस्वरूप पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है क्योंकि यहाँ मानव की मनोगत अवस्थाओं एवं प्रेरणाओं को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है। व्यक्ति की मनोवृति या मनोभावनायें ही कर्म करने में मूलरूप से कार्य करती हैं। उसके कर्म करने में इस बात का महत्व है कि उसके पीछे किस प्रकार की वासनायें कार्यरत हैं। कर्ता की चेतना लोभ, द्वेष, मोह से या अलोभ, अद्वेष व अमोह इन छह हेतुओं से प्रेरित हैं अथवा इनमें से किसी से भी प्रेरित नहीं हैं। कर्मों के कुशल व अकुशल तथा व्याकृतादिक प्रकार भी व्यक्ति की मनोवृतियों के आधार पर ही विभाजित हैं। बुद्ध ने इसीलिये कर्म के मूलतः दो भेद किये हैं–चित्तकर्म व चैतसिक कर्म, तथापि चित्तकर्म (मानसिक कर्म) को ही मुख्य कहा है क्योंकि वह संकल्पवाही है तथा भावप्रधान है। वास्तव में व्यक्ति के मानसिक, कायिक व वाचिक सभी प्रकार के कर्म चेतना अर्थात् मन पर ही आधारित हैं और मन की भावनाओं की अभिव्यक्ति को ही प्रकट करते हैं। धम्मपद के यमकवग्ग की गाथा में इसीलिये कहा गया है कि सभी कर्मों का प्रारम्भ मन से ही होता है, मन ही श्रेष्ठ है, सारे कार्य मनोमय होते हैं। व्यक्ति यदि दुष्ट मन से बोलता है या कार्य करता है तो दुःख उसका पीछा उसी प्रकार करता है जैसे कि चक्र बैल के पैर का पीछा करता है। व्यक्ति यदि प्रसन्न मन

से बोलता है या कोई करता है तो सुख छाया के समान उसका पीछा करती है। इस कथन का अभिप्राय है कि बौद्धकर्म के अनुसार वेदना, संज्ञा तथा संस्कार ये तीन "खंध" (स्कंध) धर्म कहे गये हैं। चित्त (मन) "विज्ञान" सकंध है। अतः वेदना, संज्ञा व संस्कार ये तीनों विज्ञान पर ही आधारित हैं इन्ही के अधीन हैं व इन्हीं के द्वारा नियंत्रित होते हैं। मन अर्थात् भावना ही व्यक्ति के सुख व दुःख का कारण बनता है। वास्तव में बुद्ध ने व्यक्ति के आंतरिक व्यक्तित्व का विश्लेषण मन को ही केंद्र में रखकर किया है। व्यक्ति जिस मनोभव से किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता है उसके छह कारण है–लोभ,द्वेष, मोह या अलोभ, अद्वेष और अमोह हैं। अभिधर्म में इन्हीं मनोभावों को कर्म का हेतु माना गया हैं। इन्हें ही कुशल तथा अकुशल में विभाजित किया गया है। इन्हें ही कुशल मूल तथा अकुशल मूल भी कहा गया है। लोभादि तीनों अकुशल मूल अथवा अकुशल हेतु हैं तात्पर्य यह है कि समस्त अशुभ कर्मों के मूल कारण यही हैं। इसी प्रकार अलोभादि तीनों कुशल मूल अथवा कुशल हेतु हैं और सभी प्रकार के शुभ कर्मों के मूल कारण ये ही हैं। कुशल व अकुशल चित्तों के अतिरिक्त एक और अन्य भेद है जिसे अव्याकृत कहा जाता हैं। अव्याकृत चित्त में रूप अर्थात् पश्थवी आदि चार महाभूत व उन पर आधारित संपूर्ण सृष्टिक्रम समाविष्ट हैं। चार महाभूतों से निर्मित व्यवहार अहेतुक हैं अर्थात् इनकी क्रियाओं में लोभ, द्वेष, मोह अथवा अलोभ, अद्वेष, अमोह कारण नहीं हैं। इसी प्रकार चित्त के लोभादि छह हेतुओं से रहित स्वभाव और नैसर्गिक प्रवृत्तियों से प्रेरित समस्त कार्य–व्यापार "अव्याकृत" की श्रेणी में आते हैं एवं चित्त की इस अवस्था को "अव्याकृत चित्त" कहा जाता है। हमारे प्रतिदिन की नित्य नैमित्तिक क्रियायें इसी के अंतर्गत आते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध–कर्म–सिद्धांत पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है। उपर कहा जा चुका है कि मनुष्य के सभी कार्यकलापों का प्रारंभ मन से ही होता है। यदि मन अच्छा नहीं है तो व्यक्ति का आचरण भी अच्छा नहीं होगा परिणास्वरूप उसके जीवन में दुःख की प्राप्ति होगी। व्यक्ति का चित्त चंचल होता है वह इच्छानुसार इधर उधर भागता है जिसका मूल कारण तृष्णा है। तृष्णा के वशीभूत होने पर ही व्यक्ति जन्म, जरा, व्याधि व मृत्यु के चक्कर में पड़ता है। इन समस्त कथनों का अभिप्राय यही है कि मन या चित्त के असंयत होने पर ही व्यक्ति में प्रीति, असक्ति, कामना और तृष्णा की वृद्धि होती है तथा पुनः वह दुःखी होता है। इसका कारण यही है कि विविध भोगविलास की वस्तुओं की प्राप्ति के लिए व्यक्ति की इन्द्रियां भी असंयत हो जाती है और वह हमेशा ही आमोद–प्रमोद को प्राप्त करने की इच्छा करता रहता है जिसका कि कोई अंत नहीं है। इन समस्त दुःख व दुःख के कारणों से छुटकारा पाने के लिए बोद्धधर्म ने

ष्टांगिक मार्ग" पर चलने का उपदेश दिया है।

मनोविज्ञान के आधार पर प्राणिजगत् को कम्मदायाद, कम्मयोनि तथा कम्मपटिसरण कहा गया है और उसे कर्मस्वकीय, कम्मदायाद, कम्मयोनि, कम्मबंधु व कम्मपटिसरण बनने के लिए विशेष रूप से चिंतन करने के लिए कहा गया है। कर्म ही प्राणियों को हीन बनाता है तथा कर्म ही उन्हें उन्नत बनाता है। अतः जो पापकारक या कल्याणकारक कर्म मैं करूँगा उसका दायाद बनुंगा क्योंकि इससे कायिक, वाचिक व मानसिक दुराचरण का नाश होता है या बहुत ही अल्पमात्रा में अवशिष्ट रहता है। "कर्मस्वकीय" का अर्थ है कि कर्म ही मेरा स्वकीय अर्थात् अपना है, अन्य सभी वस्तुयें पता नहीं मुझसे कब अलग हो जाएँगी। कम्मदायाद अर्थात् अच्छे कर्मों के करने से मुझे सुख मिलेगा तथा बुरे कर्म करूंगा तो दुःख भुगतना पड़ेगा। "कम्मयोनि" का अभिप्राय है कि कर्म से ही मेरा जन्म हुआ है, कम्मबंधु अर्थात् संकट में कर्म के अलावा और कोई भी सहायक नहीं हैं अतः वही सच्चा बांधव है। "कम्मपटिसरण" का अर्थ है कि कर्म ही मेरी रक्षा कर सकेगा। इस प्रकार बुद्ध ने कर्म का अत्यंत मनोवैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत कर व्यक्ति के जीवन का निर्धारित करने में कर्म के प्रभाव पर विशेष बल दिया है।

कर्मसिद्धांत की सामाजिक व्याख्या :

मानव जीवन [illegible] वर्तमान समस्याओं के विषय में बौद्ध–कर्म सिद्धांत की उपयोगिता को ध्यान में रखकर उसकी सामाजिक व्याख्या करने पर हम देखते हैं कि सामाजिक जीवन में कुशल कर्मों का आचरण मनुष्य के लिए अत्यंत उपादेय है। वर्तमान समाज में अनेक प्रकार की प्रचलित अकुशल रूढ़िवादी विचारें को कुशल विचार के माध्यम से समाप्त किया जा सकता है बुद्ध के अनुसार तृष्णा से उत्पन्न हिंसा आदि कर्म कभी शुद्ध नहीं हो सकते। उन्हीं के कारण व्यक्ति विषम मार्ग का अनुसरण करता है तथा उन कुशल कर्मों के विरूद्ध कुशल कर्म करने से ही इन विषम मार्ग से वह मुक्त हो सकता है।

समाज में प्रचलित अकुशल रूढ़ि परंपरा के विरोध में यदि किसी को कुशल विचार उत्पन्न हो जाए तो उसे लोगों में प्रचारित करना ही सज्जन व्यक्ति का कर्म हैं। बुद्ध कहते हैं कि "हे चुंद, जहाँ अन्य लोग हिंसक वृत्ति से आचरण करते हैं वहाँ हमें अहिंसक हो ऐसी स्वच्छता करनी चाहिए। इस प्रकार बौद्धकर्म सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति के कर्म का सामाजिक दृष्टि से विशिष्ट महत्व है। वास्तव में मानवीय दुःखों की मुक्ति ही तथागत को सर्वाधिक प्रिय थी इसलिये उन्होंने व्यक्ति को

वास्तविक जीवन जीने के लिए प्रेरित किया। बुद्ध ने पाप–पुण्य को महत्व न देकर मानव को पवित्र जीवन जीने के लिए प्रेरित किया और पापाचरण से अलग रहकर अंतर्चित की शुद्धि के लिए उत्साह की आवश्यकता पर बल दिया। यहाँ यह ध्यातव्य है कि बुद्ध यह नहीं चाहते थे कि "जैसे को तैसा" वाली बात लोकप्रचारित हो क्योंकि यदि अच्छे या बुरे कर्मों का फल अमान्य हुआ तो बौद्धधर्म की विशिष्टता ही समाप्त हो जाएगी। "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" की भावना ही मिट जाएगी। बुद्ध के पूर्व अथवा उनके समकालीन भी लोकायतादि कुछ लोग मानते थे कि व्यक्ति के बुरे कर्मों का पाप या अच्छे कर्मों का पुण्य भी नहीं होता। इस प्रकार विश्व में दीन दुखियों, दलित, गरीब, पीड़ित व कमजोर प्राणियों का संरक्षण कैसे हो सकेगा? ऐसे प्राणी किस प्रकार जीवित रह सकेंगें? संभवतः यही कारण रहा होगा बुद्ध के कर्माधिष्ठित पुनर्जन्म का आश्रय लेने में। व्यक्ति के दुःख का कारण इसी लोक में है। यदि मनुष्यों का दुःख उसके कर्म के कारण भी कुछ है तो बहुत कम है। लोक विषयक, जीवन पर शरीर की एकता विषयक और निर्वाण के पश्चात् की अवस्था के विषय के संबंधित प्रश्नों की व्याख्या बुद्ध ने नहीं की, म.नि. के "चूलमालुक्य सुत्त" में ऐसे दस प्रश्नों की चर्चा है जिन्हें बिना व्याख्या किए छोड़ दिया गया है। वास्तव में इन प्रश्नों का उत्तर देना संभव नहीं हैं। बौद्धधर्म पूर्णतया व्यावहारिक व वैज्ञानिक है। बौद्धसिद्धांत के अुनसार संसार में दुःख है और उसका मूल कारण तृष्णा है अतः बुद्ध का मार्ग तृष्णा को दूर करने के लिए है। "अप्पं कम्मविपाकजं बहुतरं अवसेसं" संसार का दुःख इस संसार में है तथा उस दुःख को दूर करने के लिए बोधिसत्वों की चर्या है क्योंकि बोधिसत्वों का विश्वास है कि वे प्राणियों को उनके कर्मजनित दुःखों से छुड़ा सकेंगें–उनके दुःखों को स्वयं भोगकर उन्हें दुःख मुक्त कर सकेंगें। बोधिसत्वों के व्रत के व्रती का संकल्प है कि संसार का दुःख वह स्वयं झेलें तथा बोधिसत्वों के पुण्य से संपूर्ण संसार सुखी हो। समाज में परस्पर सद्भाव ऐक्य तथा परस्पर मैत्रीभाव का यह विचार बौद्धकर्म सिद्धांत का आधार है।

कर्म से ही बुद्ध ने मानव जाति के विभाजन की बात कही है जन्म से नहीं। "जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता और न ही अब्राह्मण। कर्म से ही ब्राह्मण या अब्राह्मण बनता है। कृषक, कारीगर, चोर, सिपाही, याजक तथा राजा ये सभी कर्म से ही होते हैं। कर्म से ही संपूर्ण जगत् चलता है। जिस प्रकार धुरी पर आधार रखकर रथ चलता है उसी प्रकार सभी प्राणी अपने–अपने कर्म पर ही आधारित हैं। किंतु बौद्धकर्मवाद की सामाजिक व्याख्या की दृष्टि से जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत है वह है "कार्यकारणभाव" का नियम जिससे "सम्भूयकारित्व" का सिद्धान्त प्रतिफलित होता है।

"सम्भूयकारित्व" कहते हैं जिससे संसार के स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी भी घटना या कार्य के होने में विविध परस्पाराश्रित कारण या परिस्थितियाँ विद्यमान है। उन्हीं के विभिन्न संयोजनों पर उस कार्य या धटना की नैतिकता, या अनैतिकता का भी निश्चय होता है। परिणामतः जीवन या समाज की कोई भी प्रस्थापना अपने आप में न तो स्वतंत्र है और न ही अपरिवर्तनीय। इस प्रकार बौद्धकर्म सिद्धांत से एक प्रगतिशील नवीन जीवन पद्धति का संकेत प्राप्त होता है जिससे व्यक्ति एवं समाज दोनों को विकसित होने का वास्तविक और तर्कसंगत मार्ग प्राप्त होता है। जिसकी परिणति समत्व या समानता में होती है। कार्य–करण भाव के आधार पर ही मध्यम मार्ग की जीवन–दृष्टि है। मध्यवर्ग के रूप में जीवन–पद्धति का जो वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है वह पूर्णतया तार्किक है।

बुद्ध का मध्यम मार्ग नीति, धर्म एवं दर्शन को एक विशिष्ट दिशा प्रदान करता है और साथ ही एक मध्यवर्ती जीवन पद्धति का प्रस्तुतीकरण करता है। साथ ही वह एक मध्यवर्ती जीवन–पद्धति को भी दर्शाता है जो विलासिता एवं कठोरता के मध्य तथा शाश्वतवाद–रहस्यवाद तथा भौतिकवाद के मध्य सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था का एक नूतन दृष्टि से देखने का प्रयास करता है। वास्तव में व्यक्ति या समाज का समुत्थान समानता से संभव है। जो परस्पर सापेक्ष है। बौद्धकर्म–सिद्धांत में जैसा कि कहा जा चुका है तृष्णा का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। मध्यम–मार्ग तृष्णा के विरोध में खड़ा होता है जबकि तृष्णा पर आधारित दर्शन शाश्वतवाद व उच्छेदवाद है। शाश्वत दृष्टि जीवन के प्रति काल्पनिक व रहस्यवादी है जिसके आधार पर ईश्वर, आत्मा, जातिवाद, वर्णव्यवस्था आदि की नित्यता का विश्वास व शास्त्र प्रमाण्य, भाषा की पवित्रता आदि के सिद्धांत पुष्ट हुए। तृष्णा का अन्य रूप है वर्तमानता जिसे उच्छेद–दृष्टि कहा जाता है, इसकी जीवन के प्रति मुख्य दृष्टि है ऐहिक सुख भोग जिससे नैतिक दृष्टि का एक सीमा के बाद विकास नहीं होता। मध्यम मार्ग एक गतिशील जीवन–दृष्टि है, जिसके प्रयोग में कोई भी व्यक्ति, व्यक्ति की दृष्टि से शील, समाधि व प्रज्ञा की तथा समाज की दृष्टि से इन्हीं की परिपूर्णता अथवा परिमिता की साधना करता है। इस प्रकार के द्विविध प्रयोग से अनेकानेक नैतिक व सामाजिक आदर्श व व्यवस्थायें प्रतिफलित होती हैं।

कर्मसिद्धांत तथा पुनर्जन्म

कर्मसिद्धांत व पुनर्जन्म का गहरा संबंध है, अतः पुनर्जन्म में विश्वास करने वाले प्रायः सभी धार्मिक तथा दार्शनिक परंपरा कर्मवाद को मानते हैं। बौद्धधर्म यद्यपि

नित्य आत्मा को नहीं मानता किंतु पुनर्जन्म को मानता है। बुद्ध कर्मवादी थे, क्योंकि वे कर्मों का विभाजन कर बतलाते हैं इसीलिये वे विभज्जवादी (विभक्तिवादी) कहे गए हैं। अक्रियावाद के वे विरोधी तथा कर्मवाद के समर्थक थे। वे कायसुचरित, वाक्सुचरित व मनः सुचरित की क्रिया का उपदेश देते थे। बुद्ध के धर्म में कर्म एवं विपाक (फल) ये दो ही तत्व विद्यमान हैं, कर्म द्वारा विपाक होता है और विपाक द्वारा कर्म और फिर कर्म से पुनर्भव, यही संसार का चक्र है।

पुनर्जन्म के संबंध में बौद्धधर्म का विचार है कि नित्य–प्रवहमान चित्त–संतति ही नया जीवन अथवा पुनर्जन्म प्रदान करती है। वह अनात्मवाद व अनित्यवाद की स्थापना कर पुनर्जन्म के सिद्धांत को नवीन रूप में प्रस्तुत करता है। जब कर्म निरूद्ध हो जाता है तब विपाक भी रूक जाता है और पुनः पुनर्जन्म नहीं होता। विशुद्धिमार्ग के अनुसार कर्म का कर्त्ता नहीं हैं और न विपाक को भोगने वाला। व्यक्ति के शुद्ध कर्म जिसे संस्कार कहा गया है वही केवल प्रवर्तित होते हैं इस प्रकार का जानना ही सम्यक् दर्शन है। बुद्ध ने स्वयं के 550 पूर्व जन्मों की चर्चायें बतलायी हैं। जिनका संग्रह जातककथा में प्राप्त होता है। व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् वर्तमान शरीर से बाहर निकलकर उसका अन्य जन्म धारण करने वाले जिस आत्मा की चर्चा अन्य भारतीय दर्शनों में प्राप्त होती है उस प्रकार के आत्मा नामक बौद्ध धर्म में कोई वस्तु नहीं है। बौद्धधर्म में इस विषय मे कहा गया है कि जब व्यक्ति की मृत्यु होती है तब यहाँ के पंचस्कंध यहीं रह जाते हैं और कर्म के कारण दूसरा जन्म होता है जिसे पालिसाहित्य मे प्रतिसन्धि कहा गया है।

पुर्नजन्म का कारण कर्म है। प्राणातिपात, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, अभिमान इत्यादि पापकर्मों से जिस व्यक्ति का चित्त लिप्त होता है वह मृत्यु के पश्चात् काया का परित्याग कर दुर्गति में उत्पन्न होता है तथा उक्त कर्मों के विपरीत अलोभ, अद्वेष, अक्रोधादि शुभ कर्मों का अनुसरण करने पर सुगति में जन्म लेता है। बौद्ध परंपरा क्योंकि आत्मा जैसा कोई नित्य वस्तु स्वीकार नहीं करती अतः पुनर्जन्म किसका होता है इस विषय में एक विशिष्ट विचार प्राप्त होता है। रूप, वेदना, स∞ञा (संज्ञा), संखार (संस्कार) तथा वि∞ञान (विज्ञान) ये पांच तत्व खंध (स्कंध) कहलाते हैं। ये पांचों इकट्ठे होकर जन्म लेते हैं, पुनर्जन्म इन्हीं का होता है इसलिए पंचस्कंध दुःखस्वरूप कहलाते हैं। संसार के वास्तविक स्थूल पदार्थों (पृथ्वी, जल आदि) का रूपस्कंध के अंदर अंतर्भाव है। इंद्रिय से उत्पन्न अनुभव वेदना है। मानसिक अनुभव को संज्ञा, विषयसंबंधी बौद्ध को संस्कार व चैतन्य को विज्ञान का कहा जा सकता है। जब ये पाँच स्कंध वासनायुक्त होते हैं तब उन्हें उपादान–स्कंध कहा जाता है। इन्हीं कारण

होता है। इस जन्म में कुशलाकुशल कर्म करने से अगले जन्म में पाँच स्कंधों का प्रादुर्भाव होता है। जब वासना का समूल उच्छेद होता है तब इन स्कंधों को उपादान–स्कंध न कहकर मात्र स्कंध कहा जाता है क्योंकि उनके कारण पुनर्जन्म की संभावना नहीं रहती। अर्हत्पद को प्राप्त होने वाले व्यक्तियों के पंचस्कंध उनकी मृत्यु तक होते हैं। किंतु अकुशल संस्कार अर्हत्पद की प्राप्ति के साथ ही पूर्णतया नष्ट होते हैं। मृत्यु के समय अर्हतों के पंचस्कंधों का विलय निर्वाण में होता है। अर्थात् उनसे पंचस्कधों का उदय नहीं होता।

बौद्धधर्म के अनुसार मृत्यु मात्र उस क्षण को सूचित करती है, जब नई परिस्थितियों में नवीन–धर्म समूह का विपाक प्रारंभ होता हैं। मिलिन्द प्रश्न में इस विषय में कहा गया है कि यदि वर्तमान शरीर से निकलकर अन्य शरीर में जाने वाला कोई नहीं है तो अपने पाप कर्मों से जन्म ग्रहण न करने पर मुक्त हो जाएगा परंतु यदि वह जन्म ग्रहण नहीं करेगा तो मुक्त नहीं होगा। एक व्यक्ति इस शरीर से अच्छे या बुरे कर्मों को करता है तभी वह उन कर्मों के प्रभाव से प्रभावित हो अन्य शरीर जन्माता है अतः वह अपने पाप कर्मों से मुक्त नहीं होगा। इसी प्रकार बिना एक शरीर से अन्य शरीर में कुछ गए ही पुनर्जन्म होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कर्म को मृत्यु का प्रधान कारण माना गया है। मृत्यु के पश्चात् प्रत्येक प्राणी अपने–अपने कर्मों के आधार पर भिन्न–भिन्न योनियों में पुनर्जनम लेते हैं। वस्तुतः कर्म व कर्म–विपाक की सूक्ष्म प्रक्रिया व्यक्ति की इच्छा जिसे तृष्णा कहा गया है के कारण प्रतिक्षण होती रहती है। चित्त–संतति ही नदी की धारा के समान प्रवहमान रहते हुए भिन्न–भिन्न योनियों या जन्मों में संसरण करती रहती है। मृत्यु के पश्चात् दूसरे जीवन को मानने पर ही इस बात की संगति बैठती है कि वर्तमान जन्म के कर्मों का विपाक अथवा फल उनके कर्त्ता को इसी जन्म में नहीं तो आगामी जन्म में निश्चय ही भोगना पड़ेगा। इस प्रकार यदि नहीं माना जाए तो व्यक्ति अपने को कर्मों के प्रति उत्तरदायित्व नहीं समझेगा।

कर्म तथा कर्मविपाक के संबंध में चर्चा करते हुए कहा गया है कि कुछ कर्म "दिट्ठधम्मवेदनीय" कर्म हैं जो इसी जन्म में फल देते हैं, "उपपधवेदनीय" कर्म अगले जन्म मे तथा कुछ कर्म जिसे "अपरापर" कर्म कहा गया है अगले जन्म के पश्चात् किसी अन्य जन्म में फल प्रदान करते हैं। कुछ कर्म ऐसे भी हैं जिनका विपाक नहीं होता ऐसे कर्मों को "अहोसि कर्म" अर्थात् फल न देने वाला कहा गया है। जब कि "उपघातक कर्म" अन्य कर्मों को बाधित कर स्वयं फल प्रदान करते हैं। कामेसुमिथ्याचारादि अकुशल कर्मों के करने पर तिरश्चिन अथवा पशुयोनियों में और कामेसुमिथ्याचारादि

से विरति होने पर देवयोनियों में जन्म होने की चर्चा पालिसाहित्य में प्राप्त होती है। शुभ कर्मों का आचरण करने पर स्वर्गभूमियों में और अशुभ द्वारा कामावचर की नरकादि भूमियों में प्राणियों का जन्म होता है। मनुष्य के रूप में जन्म शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप ही होता है। दानादि दस पारमिताओं की पूर्णता का परिणाम इस लोक में बुद्धादि महापुरूषों के रूप में जन्म लेना है।

कर्म एवं पुनर्जन्म का क्रम जब तक निर्वाण का साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक बना रहता है। निर्वाण का जब साक्षात्कार हो जाता है तब कर्म व पुनर्जन्म दोनों रूक जाते हैं। वास्तव में कर्म करने का मुख्य कारण अविद्या ही है और उन्हीं कर्मों से संसार की संरचना होती रहती है व संपूर्ण भव–चक्र चलता रहता है। अतः जब अविद्या का ही प्रणाश हो जाएगा तब विद्या द्वारा कर्म का क्षय हो जाता है और संस्कारों का होना रूक जाता है इस प्रकार पुनर्जन्म नहीं हो पाता। अतः स्पष्ट है कि पुनर्जन्म का कारण मुख्य रूप से अविद्या ही है जिसका मूल व्यक्ति की इच्छा है। बौद्धकर्मवाद के अनुसार तृष्णापक्षय से पुनर्जन्म नहीं होता। तृष्णा मन की इच्छायें ही हैं जो चेतना द्वारा कार्यरूप में परिणत होती हैं। यही कारण है कि बुद्ध ने "चेतनाहं भिक्खवे कम्मं वदामि" का उपदेश दिया। बौद्ध–परंपरा में चित्त की ध्यान में अनुभूत पूर्व अवस्थाओं को भी पुनर्जन्म कहा गया है। विमानवत्थु व पेतवत्थु आदि ग्रंथों में भिक्षु–भिक्षुणियों तथा उपासक–उपासिकाओं के देवता रूप जन्मों का विवरण प्राप्त होता है। ये विवरण कुशल तथा अकुशल कर्म के आधार पर ही प्रतिपादित किये गये हैं। मनुष्य योनि ही ऐसी योनि है जिसमें निर्वाण या मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य रूप में जन्म लेकर व्यक्ति अपने कुशल कर्मों द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस मुक्ति–प्राप्ति के लिए वर्ण, जाति, देश, काल, आयु, लिंगादि का कोई बंधन नहीं है। मात्र सम्यक् प्रकार से सावधानीपूर्वक कुशल कर्म करने की आवश्यकता है जो आर्य आष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करने पर ही संभव है। सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों में भी इन्हीं की सविस्तृत चर्चा है। वस्तुतः कुशल व अकुशल की परीक्षा कर अपने कर्मों को हेतु–मुक्त या सर्वथा विपाक रहित बनाने वाले अनेक साधकों की चर्चा बौद्ध–साहित्य में प्राप्त होती है। मुक्ति पाने के लिए शील, समाधि व प्रज्ञा के मार्ग पर चलना अनिवार्य है। व्यक्ति के कर्मों के आधार पर बुद्ध यह जान जाते थे कि वह व्यक्ति किस योनि में उत्पन्न होगा। कर्म सिद्धांत के सम्यक् स्वरूप को ही जानकर बुद्ध ने कहा कि भिक्षुओं क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष आदि का परित्याग करने पर इस आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाओगे। कर्म के आधार पर ही व्यक्ति ब्राह्मण बनता है न कि जन्म के आधार पर। जन्म से शूद्र होने पर भी यदि व्यक्ति स्मृति प्रस्थान की भावना

तो वह निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है। पुण्य कर्म में आयु की वृद्धि । बुद्ध के अनुसार कर्म ही उद्धार कर सकता है उपदेश नहीं। इससे स्पष्ट कि बुद्ध का कर्म सिद्धांत अत्यंत व्यावहारिक है जिसमें प्रार्थना, पूजा आदि से धिक महत्व व्यक्ति के कर्म को दिया गया है क्योंकि कर्म से ही अपना उद्धार हो कता है प्रार्थना से नहीं।

कर्मफल, विपाक–फल तथा क्षणिकवाद

बौद्धकर्मवाद में मात्र चेतना तथा कर्म ही सफल कर्म नहीं है अपितु कर्म के परिणाम का भी विचार आवश्यक है। कर्मसिद्धांत के अनुसार कर्म यद्यपि स्वकीय है अर्थात् कर्ता ही कर्म के फल को भोगता है किंतु पालि–निकाय में पुण्य–परिणामना (प्राप्तिदान) की चर्चा प्राप्त होती है जिसका तात्पर्य है कि हम मात्र पुण्य में ही दूसरों को सम्मिलित कर सकते हैं पाप में नहीं। मनुष्य के भावी–जीवन के निर्धारण में कर्म का ही प्रभाव रहता है। बौद्ध–कर्म–वाद में कर्म–फलों के अन्य जन्म में संक्रमित होने के विषय में कहा गया है कि जो व्यक्ति कर्म करता है वही उसका फल नहीं भोगता, या एक व्यक्ति कर्म करता है तथा अन्य व्यक्ति उसका फल भोगता है। बौद्धकर्मवाद के अनुसार प्रत्येक एक निरंतर प्रवाह की स्थिति में हैं अर्थात् उसके पांचों स्कंध, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान जिनसे वह बना हुआ है प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहे हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जो कर्म करता है वही उसका फल भी भोगता है। जिसने भी कर्म किया वह परिवर्तनशील होने के कारण वास्तव में उस कर्म के फल–प्राप्ति के समय तक वही व्यक्ति बना नहीं रहता अर्थात् वह तो बदल गया तथापि वह पहले से सर्वथा भिन्न व्यक्ति नहीं रह गया।

कर्मसिद्धांत व क्षणिकवाद :

बौद्धकर्म सिद्धांत क्षणिकवाद व कारण–परंपरा से जुड़ा हुआ है। संसार का प्रत्येक जीव व दूसरे पदार्थ एक निरंतर प्रवाह की स्थिति में हैं इसलिए किन्हीं भी दो क्षणों में एक समान नहीं बने रह सकते। एक क्षण की स्थिति समाप्त होने पर ही दूसरे क्षण की प्राप्ति होती है, उदाहरणार्थ एक बीज के प्रणाश होने पर ही अंकुर रूप में जन्म होता है। बीज से जन्म ग्रहण करने वला अंकुर वही बीज नहीं हो सकता किंतु वह बिल्कुल उससे भिन्न भी नहीं हैं क्योंकि बीज के गुण अंकुर में संक्रमित हो जाते हैं किंतु भूमि, जल, वायु, इत्यादि की स्थिति के अनुसार उनमें कुछ परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार बौद्ध परंपरा देहधारियों में आत्मा नामक किसी वस्तु को नहीं

मानता जो अपरिवर्तनशील हो क्योंकि आत्मा या पुद्गल अविच्छेद रूप से शरीर के पंच–स्कंधों के साथ बँधा हुआ है तथा उनसे पृथक् उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। एक छोटी सी जलती हुई दियासलाई एक बृहत अग्निराशि का कारण है किन्तु कोई यह नहीं कह सकता कि दोनों अग्नियाँ एक ही हैं या दोनों एक दूसरे से नितांत भिन्न हैं। इसी प्रकार एक आम की गुठली तथा उससे उत्पन्न वृक्ष के फल एक ही नहीं है। इस प्रकार निष्कर्षतः 'सो करोति सो पटिसंवेदयति' या अञ्ञो करोति अञ्ञो पटिसंवेदयति' कहना उचित नहीं है। ये दोनों अंतकोटि के मत है, जिन्हें बुद्ध ने त्याग कर मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया था जो उनके मत से यह है – "न च सो न च अञ्ञो' अर्थात् वह न वही है न उससे भिन्न कोई अन्य है।

कर्मसिद्धान्त और कर्म–स्वातंत्र्य

बौद्धधर्म में जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कर्म चेतना से संबंधित कायिक–चेष्टा एवं वाक्–ध्वनि है। इससे कर्म–स्वातंत्र्य के स्वभाव का पता चलता है। कर्म के मानसिक, शारीरिक व वाचिक जो भेद किए गए है उनसे भी यही प्रमाणित होता है। कर्म–स्वातंत्र्य के संबंध में यह विचार अनेक लोग नहीं स्वीकार करते हैं। इस विषय में ईश्वरवादियों का मत है कि ईश्वर ही प्राणियों के कर्मों का विधायक है जबकि नियतिवादी के अनुसार जीव को कर्म में दैव नियोजित करता है वही सुख–दुःख को देने वाला है। दैव से यहाँ तात्पर्य यदृच्छा से है। इसका अभिप्राय यही है कि हमारे कर्म बिना किसी कारण के होतें है अथवा ये पुरातन कर्म हैं। वर्तमान जन्म के हमारे कर्म पूर्वजन्म–कृत कर्मो के परिणाम है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यदि हम स्वयं स्वतंत्र नहीं है तो पाप–क्रिया कैसे कर सकते हैं यदृच्छा, ईश्वर या पुरातन कर्म के अधिन हमारे कर्म हैं तो हम स्वतंत्र नहीं हैं। जातकमाला में निम्नलिखित पांच वादों का निराकरण किया गया है। (1) सब अहेतुक हैं (2) सब ईश्वराधीन हैं (3) सब पुरातन कर्म पर निर्भर हैं (4) पुर्नजन्म नहीं हैं (5) वर्ण धर्म का सभी को पालन करना चाहिए। तथापि अपने प्रतिवेशी के स्वातंत्र्य में विश्वास करना उचित नहीं हैं। अंगुत्तर निकाय के अनुसार "जब एक भिक्षु किसी सब्रह्मचारी को अपने प्रति अपराध करते देखता है तब वह सोचता है कि यह 'आयुष्मान' जो मेरा आक्रोश करता है पुरातन कर्म का दायाद है।"

बौद्धकर्मवाद व्यक्ति को स्वावलम्बी बनने के लिए प्रेरित करता है। व्यक्ति स्वयं किए गए अकुशल कर्मों से अपने आप को बुरा मानता है और अपने आप से अशुभ कर्मों को न करते हुए स्वयं को शुद्ध बनाता है अर्थात अच्छा बनाता है। यह

पर निर्भर करता है कि वह अपने आपको कैसा बनाना चाहता है। कोई भी अन्य को शुभ नही बना सकता क्योंकि वह अपना स्वामी स्वयं ही है, दूसरा कोन उसका स्वामी हो सकता है। इसलिए स्वयं को भली प्रकार से वश में कर लेने पर वह दुर्लभ स्वामी को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार बौद्धकर्म सिद्धान्त में व्यक्ति को अपने जीवन को अच्छा या बुरा बनाने के लिए स्वयं को ही उत्तरदायित्व दिया गया है। मनुष्य अच्छे कर्म करके वर्तमान और भविष्य के जीवन को संवार सकता हैं। इस संबंध में बुद्ध का स्पष्ट कथन है कि सुख और दुःख ईश्वर द्वारा उत्पन्न नहीं किए जा सकते यदि ऐसा होता तो प्राणातिपात, अदिन्नादान, कामेसुमिथ्याचार, मुसावाद, पिशुनावाचा, परूसावाचा आदि सभी को ईश्वरकृत मानना पडेगा जो कि उचित नहीं है। इस संसार में धनी–गरीब, ऊँच–नीच, अच्छा–बुरा, रूपविभिन्नता आदि जो परिलक्षित होता है उन सबका मुख्य कारण कर्म ही है। कर्म को ही अगर जगत् का कारण माना जाए तो ईश्वर को सृष्टि–कर्ता और सुख–दुःख का निर्माता मानने की आवश्यकता ही नहीं है। अतः बुद्ध ने अपने आपको न तो सर्वज्ञ माना है और न ही ईश्वर।

बौद्धकर्मवाद के संदर्भ में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धान्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में कर्म सिद्धान्त के सम्यक् एवं स्पष्ट स्वरूप को समझने के लिए प्रतीत्यसमुत्पाद को समझना आवश्यक है क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद में जिस संस्कार के प्रयोग का समावेश है उसका अभिप्राय कर्म से ही है, अर्थात् पूर्व जन्म के कर्म को संस्कार कहा जाता है। अविद्या से उत्पन्न कुशल तथा अकुशल कर्मों के परिणामस्वरूप ही इस संसार में प्राणियों का आवागमन होता रहता है। ये कुशल तथा अकुशल कर्म ही संस्कार है। संस्कार के प्रत्यय के कारण ही विज्ञान होता है तथा 'षडविज्ञानकाय' को विज्ञान कहा गया है। विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप की उत्पत्ति होती है। इसे ही पंचस्कंध कहा गया है। नामरूप की वृद्धि प्राप्तकार षडिन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। उसके बाद स्पर्श से सुख–दुःखादि तीन वेदनाएँ होती हैं। वेदना से तीन प्रकार की तृष्णाएँ होती हैं–कामतृष्णा, रूपतृष्णा, अरूपतृष्णा। कामतृष्णा कामावचर भूमि में होने वाली तृष्णा है। प्रथम ध्यान से लेकर तृतीय ध्यान की सुखावेदना तक रूपतृष्णा है। तृष्णा होने पर उपादान होता है। काम, दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श तथा आत्मवादोपदान ये चार प्रकार के उपादान होते हैं। पाँच काम–रूप, शब्द, रस, गंध, व स्पर्श कामगुण हैं। दृष्टियाँ बासठ हैं। या दृष्टि का अभिप्राय सत्कायदृष्टि से भी है जिसे आत्मियदृष्टि भी कहा गया है। दौःशील का प्रतीपक्षी शीलव्रत है। इन व्रतों का समादान शीलव्रतोपादान है। आत्मत्व आत्मवाद है। कुछ लोग आत्मवाद को आत्मदृष्टि तथा अस्मिमान भी

मानते हैं। उपादान से उपचित होने पर ही कर्म पूर्नजन्म का कारण बनता है। अतः भव होता है। पुर्नभव होना कर्म का स्वभाव है। भव से जाति होती है जो पञ्चस्कन्धिका है क्योंकि यह नाम–रूप स्वभाव है। जाति के परिपाक से जरा तथा जरा का अभिनिपात मरण है। इस प्रकार शोक–दुःखादि महत दुःखस्कन्ध का समुदय होता है। अतः कहा गया है कि –

कम्मस्स कारणमयं हि यथा अविज्जा
भो कम्मना समधिगच्छति जातिभेदं ।
जाति पटिच्च च जरामरणादिदुक्खं
सत्ता सदा पटिलभन्ति अनादिकाले ।

इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के उक्तस्वरूप द्वारा बौद्ध–कर्मवाद को सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है।यही कारण है कि इसे कर्म भी कहा गया है तथा कर्मवाद के साथ इसका घनिष्ठ संबंध है। प्रतीत्यसमुत्पाद कर्मों के कारणों व उनके निरोध के उपायों का दिग्दर्शन करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मफल की प्राप्ति में मात्र कोई एक ही कारण नहीं होता अपितु देश, काल, समाज की परिस्थितियाँ आदि अनेक अन्य तत्व भी इसके कारण होते हैं। बुद्ध ने जिस प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश किया उसी को नागार्जुन ने शून्यता के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है। सकारणता तथा परिवर्तन के नियम का नाम ही शून्यता है। सांसारिक व्यवहार के लिए शून्यता का ठीक समझना पारलौकिक व्यवहार के समान ही आवश्यक है। नागार्जुन ने लोक से परलोक तक की सभी प्रज्ञप्तियों को अत्यन्त ध्यान से देखा तथा उन्होंने उनकी व्यवहारिक सत्ता को परस्पर सापेक्ष पाया। जिसका व्यवहार होता है वह सभी सापेक्ष सत् है किन्तु तत्त्व व्यवहार से परे है क्योंकि धर्ममात्र वस्तुतः न तो उत्पन्न होते हैं और न ही निरोध होते हैं उत्पाद और निरूद्ध सब व्यवहार के लिए हैं। वस्तुतः एक ही वस्तु जब परिवर्तन के प्रवाह में अन्य रूप धारण करती है तब यदि वह रूप हमारे लिए उपयोगी होता है तब तो हम उसे कह देते हैं कि उत्पाद हुआ है यदि हमारे लिए अनुपयोगी होता है तब कहतें हैं कि उसका नाश हो गया। नागार्जुन से पूर्व श्रमण ब्राह्मण मोक्ष पर बहुत अधिक बल दे रहे थे। मोक्ष के लिए उन्होंने तृष्णा निरोध की शिक्षा दी थी। नागार्जुन ने इस शिक्षा व उससे प्रचलित प्रवृतियों को परखा। उन्होंने देखा कि मुक्ति के लिए संसार छोडने वाले भी तृष्णा से छूट नही पाते। संसार में तृष्णाभिभूत होकर बहुत कुछ जोडते बटोरते हैं किन्तु मुक्ति के प्रति जिनकी तृष्णा है उनमें जोडने बटोरने की कल्पना और भी बढ़ी चढ़ी है। नागार्जुन के अनुसार जो लोग यह सोचते हैं कि उपादान रहित होकर हम

ा पा लेगें उन्हे वास्तव में बहुत बडे उपादान का ग्रहण लगा हुआ है। कर्म न्त के परिप्रेक्ष्य में शून्यवाद की दृष्टि अत्यन्त उपयोगी है। प्रायः सभी भारतीय दर्शन भौतिकवादी को छोडकर मानते हैं कि मनुष्य की अपनी तृष्णा ही दुःख का कारण है। तृष्णा क्यों होती है? बुद्ध के अनुसार तृष्णा का कारण आत्मदृष्टि है। आत्मदृष्टि से अभिप्राय शरीर के अंदर एक नित्य आत्मा को मानना। नित्य से अभिप्राय अपरिवर्तनशील से है। जिस वस्तु पर हमें विश्वास है कि वह नित्य रहेगी उस पर हमारा राग होना स्वाभाविक है। आत्मा ही नहीं और भी बहुत चीजों को भारतीय दार्शनिकों ने नित्य कहा है। किन्तु बुद्ध व उनके अनुयाइओं ने आत्मा ही नही किसी भी वस्तु को नित्य नहीं माना। इस आत्मा के लिए माने गए सिद्धान्त पुर्नजन्म, कर्मफल, स्वर्गनरक तथा मोक्ष को तो बौद्धों ने मान लिया यद्यपि उस मान्यता में उन्होंने कहीं–कहीं अपनी कुछ व्याख्या अवश्य की किन्तु आत्मा के नित्यवाद के साथ कोई समझौता नहीं कर पाए।

जैन कर्म सिद्धान्त और स्वास्थ्य

डॉ. शक्तिकुमार शर्मा "शकुन्त"
वरिष्ठ शोध अधिकारी, साहित्य संस्थान
जर्नादनराय नागर राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

मानव जीवन में सुखों का विचार करें तो कहा जाता है–

"पहला सुख निरोगी काया। दुजो सुख घर में माया।।
तीजो सुख कुलवन्ता नारी। चौथो सुख पुत्र अधिकारी।।
पाँचवो सुख राज में पासो। छठो सुख बैकुण्ठ वासो।।

लोक मानस में व्याप्त यह धारणा किसी प्राचीन संस्कृत कवि के इस श्लोक के आधार पर बनी हुई प्रतीत होती है –

अर्थागमो नित्यमारोगिता च,
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या,
षड्जीवलोकानि सुखानि राजन्।।

इसी प्रकार दुःखों का वर्णन करते हुये कवि बल्लालने कालिदास के माध्यम से भोज को कहलवाया है

कुग्रामवासो कुलहीनसेवा,
कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या।
मूर्खश्च पुत्रों विधवाच कन्या,
षड्जीवलोकानि दुःखानि राजन्।।

इन श्लोकों से प्रतीत होता है स्वास्थ परम सुख तथा कुभोजन व्याधियां परम दुःख का कारण माना जाता है। यह कुभोजन ही व्याधियों का कारण बनता है, जिससे स्वास्थ्य बिगड़ता है। स्वास्थ्य की सुरक्षा पर जीवन की अन्य गतिविधियां अवलम्बित होती हैं।

"धर्मार्थ काममोक्षाणामारोग्यमूलमुत्तमम्"

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति हेतु हमें रोग उत्पन्न करने वाले कारणों का निवारण करने का प्रयास करना चाहिये। इससे पहले की हम उनके निवारण पर दृष्टि डाले, रोगोत्पादक कारणों को समझना चाहिये।

भारतीय मान्यता के अनुसार कर्म ही मनुष्य की गतिविधियों को संचालित करता है। कर्म करने के पीछे मन में उसकी प्रवृति होना और मन का उसमें बन्धना आवश्यक है। जब तक मन में उसके प्रति आसक्ति का भाव नहीं तब तक कर्मफल नहीं प्राप्त होता है। अतः कहा गया है –

"मनः एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयों।।"

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण होता है मन के द्वारा प्रेरित होकर शरीर द्वारा की गई क्रिया कर्म कहलाती है। कर्म के संबंध में वाचस्पत्यं शब्द कोश में कहा गया है – "कृ" धातु हिंसा के अर्थ में प्रयुक्त होती है इससे "मन्" प्रत्यय लगकर "कर्मन्" शब्द बनता है। हिंसा करता है इसके हेतु आदि में "ट" प्रत्यय लगता है तब "अन्" का लोप होकर "अन" के स्थान पर "ट" लग जाता है। इस शब्द को जब काण्ड के साथ प्रयोग कर अर्थ किया गया तो वाचस्पत्यम् ने लिखा कर्मकाण्ड अर्थात् कर्मों का कर्त्तव्यता का प्रतिपादक काण्ड (अध्याय) यहां यह शब्द कर्त्तव्यता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी शब्द को जब विपाक के साथ जोड कर प्रयोग किया गया तो उस का अर्थ दिया है– "पुण्य और अपुण्य के कारण" पातंजल योग भाष्य मे कहा गया – जात्यायुभोगरू कर्म का फल या तो जाति (जन्म) आयु और भोग रूप इन रूपों में प्राप्त होता है। इस प्रकार पातंजल योग के अनुसार कर्म को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं (1) पुण्यकर्म (2) अपुण्यकर्म। कर्मफल को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं (1) जन्म (2) आयु (3) भोग।

कर्म करने का यह सिद्धान्त और इसकी गहन विवेचना सूत्र साहित्य के पश्चात् भगवत् गीता में मिलती है जहां कहा गया है कर्म और अकर्म का सिद्धान्त इतना दुरूह है कि इस विषय में कविगण भी मोहित हैं। श्रीमद्भगवत गीता में कर्म के तीन भेद (1) कर्म (2) अकर्म (3) विकर्म। वहां पर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञानावस्थित चित्तवाला आसक्ति रहित मुक्तभावना से युक्त व्यक्ति के समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं अर्थात् आसक्ति रहित व्यक्ति को कर्मफल प्राप्त नहीं होते हैं। वे स्वयं के लिये कहते हैं कि न कर्म मुझमें लिप्त होते हैं न मुझे कर्मफल ही स्पृहा हैं, जो मेरे इस स्वभाव को जानता है, (अर्थात् जानकर जीवन में अनुसरण भी करता है) वह कर्मबन्धन से नहीं बंधता। सांसारिक दृष्टि से जिसे कर्म कहा जाता है उसे अकर्म

और सांसारिक दृष्टि से अकर्म कहा जाता है, उसे कर्म के रूप में देखने वाला व्यक्ति सम्पूर्ण कर्म करते हुये भी योग दर्शन में मुक्त होता है।

भगवद्गीता में कर्म के विभाग करते समय प्रकृति के गुण के आधार पर भी उनका वर्गीकरण किया है (1) सात्विक (2) राजसिक (3) तामसिक

सात्विक – आसक्ति रहित, रागद्वेष हीन, फलप्राप्ति की इच्छा रखे बिना किया गया कर्म सात्विक कर्म कहलाता है –

नियतं सग्ड.रहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्विकमुच्यते।।

राजसिक – फलप्राप्ति की इच्छा से अहंकार पूर्वक बहुत मेहनत से किया गया कर्म राजसिक होता है –

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहड.कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।

तामसिक – कार्य के अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरूष की अपेक्षा करते हुये मोहपूर्वक किया गया कार्य (कर्म) तामसिक कर्म होता है।

अनुबन्ध क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरूषम्।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम्।।

इतना ही नहीं गीता के वर्णानुसार कर्मों का वर्गीकरण भी किया है (1) ब्रह्म कर्म (2) क्षत्रकर्म (3) वैश्यकम (4) शूद्रकर्म।

(1) ब्रह्मकर्म शम, दम, तप, शौच क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक ये गुण या कर्म ब्रह्मकर्म कहे जाते हैं।

(2) क्षात्रकर्म शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध से मुख न मोड़ना, दान, प्रभुता, ये क्षात्र कर्म कहे जाते हैं।

(3) वैश्य कर्म – कृषि, पशुपालन और व्यापार वैश्य कर्म हैं।

(4) शूद्र कर्म – परिचर्यात्मक कर्म शूद्र कर्म कहे जाते हैं।

शब्दकल्पद्रुम में क्रिया व्याप्यं कर्म कहा गया है। ये तीन या चार प्रकार के होते हैं (1) कारकान्तर्गत द्वितीया विभक्ति को भी कर्म कहा जाता है। भाषापरिच्छेद में पांच कर्म माने हैं– उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुचन, प्रसारण और गमन, ये पांच क्रियायें कर्म कही गई हैं। गमन के पुनः 4 भेद है (1) भ्रमण (2) रेचन (3) तिर्यग्मन (4) उर्द्धवज्वलन (5) स्यन्दन

भर्तृहरि ने कर्म को दो भागों में विभक्त किया है (1) निवश्त्यर्थ (2) विकार्य। विकार्य के फिर दो भेद किये गये है। (1) प्रकृति उच्छेदक (2) गुणान्तराधायक।

मीमांसा दर्शन में (1) काम्य और (2) निषिद्ध नाम से भी कर्म के भेद किये गये हैं। यहाँ कर्म को ही संसार का प्रमुख आधार कहा गया है, वे ईश्वर के स्थान पर भी कर्म को ही महत्व देते हैं –

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः
बोद्धाः बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरि !

जैन दर्शन की दृष्टि से कर्म सिद्धान्त पर व्यापक विचार किया गया है। वहाँ आत्मा के साथ बंधने वाले विशेष जाति के पुदग्ल स्कन्ध को कर्म कहा गया है। इसके दो भेद माने जाते हैं।

(1) भाव कर्म (2) द्रव्यकर्म। द्रव्यकर्म को पुनः दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है (1) कर्म वर्गणा (2) नो कर्म वर्गणा जीव जैसे जैसे कर्म करता है वैसे वैसे स्वभाव को लेकर द्रव्य कर्म उसके साथ बंधते हैं। कुछ काल बाद इनका पाक होकर ये परिपक्व दशा को प्राप्त होते हैं और इनका उदय होता है, तो उदय काल में ज्ञानादि गुण तिरोहित हो जाते हैं, यही समय इनके फलदान का समय होता है। शान्तातप ने इस फलदान के समय को कर्मविपाक कहा है।

जैन दर्शन में कर्म 8 प्रकार के बताये गये हैं– 1. ज्ञानावरणीय 2. दर्शनावरणीय 3. मोहनीय 4. अन्तराय 5. वेदनीय 6. आयु 7.नाम 8. गौत्र। इनमें से प्रथम चार 1. ज्ञानावरणीय 2. दर्शनावरणीय 3. मोहनीय 4. अन्तराय को घाती कर्म कहा जाता है, और अन्तिम चार 1. वेदनीय 2. आयु 3. नाम 4. गौत्र को अघाती कर्म कहा जाता है। प्रथम चार कर्मप्रकृतियां आत्मा के मौलिक गुणों का घात करती हैं। अतः इन्हें घाती कर्म कहा जाता है। अन्तिम चार कर्म इन का घात तो नहीं करते परन्तु इनके क्षय के बिना मुक्ति नहीं मिलती। मिथ्यात्व के उदय से जीव इन अष्ट विध कर्म प्रकृतियों से बंधता है। इन की उत्पत्ति में पाँच कारण होते है– 1. मिथ्यात्व 2. अविरति 3. प्रमाद 4. कषाय 5. योग।

इन पाँचों का हमारे जीवन से सीधा संबंध है। तथापि इनमें भी मुख्य कषाय, आवेरति और प्रमाद है। जिनके कारण हम अस्वस्थ होते हैं। आयु कर्म के उदय से हमें आयु प्राप्त होती है। परन्तु आयु (अवधि) को हम स्वस्थ रह कर सुख से व्यतीत करें या कषाय प्रमादादि के वशीभूत रोगी बन कर कष्ट से बिताये, यह तो हमारे अधीन है। क्योंकि कर्म का कर्त्ता और भोक्ता जीव स्वयं है। कहा भी गया है–

यः कर्त्ता कर्म भेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च।

संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः।।

जीव नियत समय तक अपने शरीर से बंधा रहता है अवधि पूरी होने पर ही वह उस को छोड़ता है उसके पूर्व नहीं। वेदनीय कर्म के उदय से हमें जीवन में सुख–दुख प्राप्त होते हैं या उन का वेदन अनुभव होता है तथा उस के अनुरूप ही हम अपने आप को सुखी–दुःखी, स्वस्थ–अस्वस्थ मानते हैं। वेदनीय कर्म सातावेदनीय और असातावेदनीय के भेद से दो प्रकार का होता है, और प्रत्येक के पुनः आठ–आठ उपभेद हैं। सातावेदनीय के आठ भेद–(1) मनोज्ञ शब्द (2) मनोज्ञ रूप (3) मनोज्ञ गंध (4) मनोज्ञ रस (5) मनोज्ञ स्पर्श (6) मनः सुखता (7) वाक् सुखता (8) काय सुखता। इनके विपरीत अमनोज्ञ शब्द, अमनोज्ञ रूप, अमनोज्ञ गंध, अमनोज्ञ रस, अमनोज्ञ स्पर्श, मनो दुःखता, वाक्दुःखता, और काय दुःखता ये आठ असातावेदनीय हैं। इनके पुनः इतने ही प्रकार के अनुभव होते हैं। वेदनीय कर्म भोग में मोहनीय कर्म की भी विशेष भूमिका है। मोह के कारण ही जीव नाना दुःख–कष्ट उठाता है। मोहनीयकर्म भी दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से दो प्रकार का है। इन दो के पुनः भेद प्रभेद हैं।

इस प्रकार प्रत्येक कषाय के चार–चार भेद से कषाय के 16 भेद हैं। कषाय की तीव्रता, मन्दता से इनके अनेकानेक भेद हो जाते है। कषाय से अभिप्राय मानसिक क्षोभ से है। व्यक्ति जितना इससे प्रभावित होता जाता है उतना ही वह अस्वस्थ होता है। व्याधियाँ दो प्रकार की होती है– (1) शारीरिक (2) मानसिक। शारीरिक व्याधियाँ प्रायः वात पित्त कफ धातु आदि की विषमता से होती है–और मानसिक आधियाँ क्रोध मान, माया, लोभादि के कारण। शारीरिक व्याधियों का शमन औषधि उपचार से हो जाता है, परन्तु मानसिक आधियों का शमन तो तत्वज्ञान, सद्गुरू के उपदेश शस्त्राध्ययनादि से होता है। यदि हमें जैन कर्म सिद्धान्त का सम्यक् ज्ञान हो जाये, तो प्रथम तो हम व्याधि (रोग) से ग्रस्त ही नहीं होंगें और यदि हुए तो उसे सम भाव से सहने का मनोबल प्राप्त हो जायेगा जिसके कारण पुनः उस रोग से पीड़ित होने का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होगा। क्योंकि इन कषायों के वशीभूत होकर ही प्राणी विभिन्न प्रकार के प्रज्ञापराध करता है, और प्रज्ञापराधों के कारण मानसिक आधियाँ और शरीरिक व्याधियां उत्पन्न होती हैं। जिसकी पुष्टि करते हुए आचार्य "हारीत" ने हारीत संहिता में कहा है–

व्याधिर्यदा गदविखण्डन भेषजाद्यै,
दोषो न याति शमनं सुकृतप्रयोगैः।
तं पूर्वजन्म-जनितं तु विमृश्य सम्यक्

कार्या समा समुपदिष्ट यथोक्त शान्ति।।

अर्थात् जब औषधि आदि से बीमारी दूर करने के उपाय करने पर भी व्याधि शान्त नहीं हो रही हो, तो पूर्वजनित कर्मों पर विचार करना चाहिये और विचार कर शान्ति का उपदेश देना चाहिये।

विक्रम की सत्रहवी शताब्दी में रचित नारायणविलास नामक ग्रंथ में कवि केशव ने प्रत्येक रोग के तीन प्रकार के कारण और निवारण प्रस्तुत किये हैं। इन कारणों में जैन सिद्धान्त में आये हुये कषायों का ही विवरण प्रमुख है– (1) कहीं क्रोधवश घरों में आग लगने के कारण उत्पन्न दाह का विवरण है तो कहीं (2) अभिमानवश गुरू का विरोध कहीं (3) मायापूर्वक अमेध्य और अखाद्य दान के कारण उत्पन्न स्त्रीरोग एवं पाण्डुरोग का विवरण भी प्राप्त होता है। तो कहीं (4) लोभ के कारण भात की चौरी, फल की चौरी तो कहीं अगम्या गमन के कारण कर्मविपाकवश प्राप्त होने वाले फलों का विवरण प्राप्त होता है। पूर्वजन्म में किये गये इन पापों के उदय होने पर उसे तदनुसार भिन्न–भिन्न बीमारियां तो भोगनी ही पड़ती हैं, जो उस जन्म में ही नहीं अनेक जन्मों तक चलती हैं।

वाचस्पत्यम् नामक शब्दकोश में न केवल एक जन्म तक पापों को भोगने की बात कही गयी है अपितु निषिद्ध कर्मों के कारण उत्पन्न पापों का फल भोगने के लिये पहले तो उसे नरक में जाना हेाता है जहाँ यम किङ्कर उसे भाँति–भाँति का संत्रास देते हैं, फिर उसे मानव योनि से भिन्न योनियों में जन्म प्राप्त करना होता है, इस योनि में भी वह पाप के कारण विभिन्न प्रकार के कष्ट उठाता है। तदनन्तर पुनः मानव योनि में जन्म लेकर पापों के प्रायश्चित स्वरूप रोगों को भोगता है। ये पूर्वजन्म के पाप के कारण उत्पन्न हुये रोग जब विविध प्रकार की औषधियों और गदविध्वंसक प्रयत्नों से भी ठीक नहीं हो तो उन्हें विविध प्रकार की शान्ति, दान और व्रत, उपासना आदि के द्वारा शान्त किया जा सकता है।

शांतातप ने भी इसी प्रकार पाप, उनके परिणामस्वरूप होने वाले रोग तथा उनके शान्ति के उपाय तो बतलाये ही हैं साथ ही पूर्वजन्म के दुष्कर्मों के प्रायश्चितस्वरूप प्राप्त होने वाली मृत्यु के प्रकारों के भी विवरण प्रदान किये हैं। इन सब विवरणों से यह ज्ञात होता है कि मान, क्रोध, लोभ और माया के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले दुष्कर्म तो अपना प्रभाव छोड़ते ही हैं, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कुसंङति के योग से उत्पन्न होने वाले दुष्कर्म भी उतना ही घातक प्रभाव छोड़ते हैं। इन पाँच प्रकार के कारणों को ही विविध रूप से समझा जा सकता है।

इन सम्पूर्ण कारणभूत दुष्कर्मों और उनके प्रभाव स्वरूप उत्पन्न अगले जन्म

के रोगों के विषय में पुर्नजन्म को न मानने वाली धारा के व्यक्ति अस्वीकार भी कर दे तो भी इन कारणों को रोगों के संक्रामक रूप से फैलने का सामाजिक कारण तो माना ही जा सकता है। उदाहरण स्वरूप ग्रहणी रोग का कारण निष्पाप पत्नी का परित्याग नामक पापकर्म का उदय माना है। यदि इस पाप का सामाजिक विश्लेषण करे तो ज्ञात होगा, कि एक पाप कर्म करके यदि उसे दण्ड नहीं मिला, तो "अविरति" नामक कारण से पत्नी त्याग की परम्परा बन जायेगी। जिस से भी विरति हो गई उसे त्याग दिया। फलस्वरूप आदिवासियों की तरह सामाजिक जीवन अस्थिर हो जायेगा। प्रत्येक पत्नी या प्रेमिका पति को अपने प्रति आसक्त बनाने के लिये विविध प्रकार के चटपटे भोजन करवायेगी और धीरे–धीरे जिह्वा के स्वाद की लोलुपता कम न हो इसलिए रसायनों के प्रयोग से भी नहीं हिचकेगी, फलस्वरूप पेट का सन्तुलन व पाचन तंत्र बिगडेगा और ग्रहणी जैसे असाध्य रोग अनजाने में ही उत्पन्न होंगें। ऐसी स्थितियां एक दो वर्ष में नहीं परम्परा जारी रहने पर 60–70–80 वर्षों में समाज में व्यापक रूप से फैलेगी और सामाजिक संक्रमण के रूप में यह फैलेगी तो उसकी अगली पीढ़ी को यह रोग ग्रस्त करेगा। इन्हें हम व्याधि प्रसार के सामाजिक कारण के रूप में जान सकते हैं। इसी तरह धन लेकर अध्यापन, हवन, अर्चना और जप को अर्श रोग का कारण माना गया। धन लेकर लोभ वश किया गया अध्यापन, अर्चन, जप और हवन की प्रवृति पड़ने पर व्यक्ति अपनी क्षमता से अधिक देर तक बैठेगा। Seating करेगा, अपने वेगों का अवरोध करेगा। भोजन व्यवस्था पर तथा पाचन तंत्र पर ध्यान नहीं देगा, भोजन पचेगा नहीं और अर्श का रूप धारण कर लेगा। यह प्रवृति भी मनुष्य का अर्थ के प्रति आवश्यकता से अधिक मोह के कारण उत्पन्न होगी। कालान्तर में अर्श रोग संक्रामक रूप से फैलने की स्थिति में आ जायेगा।

प्रत्येक रोग के कर्म विपाकज कारणों का विश्लेषण इस छोटे से लेख के आकार में समेटना संभव नहीं है। तथापि कुछ दृष्टान्त रूप में निरूपित है–यथा हम क्रोध को लें तो– व्यक्ति यदि इसके वशीभूत होकर किसी की विष से हत्या करता है, करवाता है, तो "अजीर्ण" रोग से पीड़ित होता है; घरों में आग लगाता है या लगवाता है या अनुमोदन करता है, क्रोधवश अग्नि में थूकता है तो "दाह" ज्वर से; आम्रवृक्षों का छेदन–भेदन करता है तो "उरूस्तंभ" रोग से; निरपराध भृत्यों पर अत्याचार करता है, पूजा कार्य में विघ्न डालता है, जीवहिंसादि करता है, तो "आन्त्रवृद्धि" "अण्डवृद्धि"; दूसरों का नेत्रघात, मन्दिर के दीप को बुझानादि कार्य करता है, तो "अक्षिरोग" "शिरोवेदनादि" से पीड़ित होता है।

इसी प्रकार श्रद्धा विहीन दान से "अरूचि"; अन्न की चोरी से "अर्जीण";

मांगने पर भी याचक, श्रान्त गौ आदि को जल न पिलाने से "तृष्णामूर्छण"; विश्वासघात, जानते हुए भी कृमि, कीट युक्त, कुत्ते का झूठा अन्न देने से "छर्दि"; निषिद्ध स्त्री गमन, ब्राह्मणों के धन की चोरी से "प्रमेह"; गुरू से ईर्ष्या, दिन में सहवास, सुरापान से "मूत्रकृच्छ"; परस्त्री को कामदृष्टि से या कुदृष्टि से देखने से "नेत्र शूल"; दूसरों के मर्म का उद्घाटन से "अम्लपित्त"; अधर्म करने से "भगन्दर"; जीव हिंसा और अन्याय पूर्वक द्रव्य चोरी से "कुष्ठ" आदि रोग होते हैं। 'किं बहुना' भगवान् महावीर ने अपने पूर्व भव में सेवक के कान में गर्म शीशा डलवाया जिसके कारण इस भव में सेवक के ग्वाले के रूप मे जन्म लेकर उनके कान में कीले ठोके और उन्हें कर्ण शूल की पीड़ा भोगनी पड़ी।

चिकित्सा शास्त्र में रोग के कारण के साथ इसके निवारण के उपायों का निरूपण है, वैसे ही जैन कर्म सिद्धान्त में प्रत्येक कर्म के कारण होने वाले विपाको और उनके शमन के उपायों का संगणकवत् गणितीय, वैज्ञानिक एवं सूक्ष्म निरूपण कर्म ग्रन्थों में है।

आज विश्व के सम्मुख व्यक्ति के स्वास्थ्य का प्रश्न भी एक समस्या का रूप धारण कर चुका है। प्रदूषण के कारण नाना रोगों का प्रसार हो रहा है कर्म सिद्धान्त को समझकर प्रदूषणों को विराम दें और अतिभोगवादी जीवन शैली पर अंकुश लगायें।

अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जैन कर्म सिद्धान्त में आये कर्मप्रकृतियों के कारणभूत पाँचो कारण (1) मिथ्यात्व (2) अविरति (3) प्रमाद (4) कषाय (5) कुसंगति का योग, त्याग दिया जाये तो व्यक्ति और समाज प्रसन्न रह कर इस धरती को अधिक रमणीय और सुखकर बना सकते हैं। यही आज के युवा की सबसे बड़ी आवश्यकता और मांग है। इसे अपनाकर हम स्वयं स्वस्थ बने और समाज देश को भी स्वस्थ बनायें।

कर्म सिद्धान्त एवं समाज, न्याय व्यवस्था

डॉ. महिमा बासल्ल
प्रवक्ता संस्कृत, बाबू शोभाराम राज, कला महाविद्यालय,
अलवर (राज.)

आध्यात्मिक दृष्टि से कर्म सिद्धान्त पर बड़ी गहराई से विचार हुआ है उसके सामाजिक सन्दर्भों की प्रासंगिकता पर भी विचार करना अपेक्षित है।

आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति माया के कारण अपना प्रकृत स्वभाव भूल जाता है। राग–द्वेष से प्रमत्त जीव इन्द्रियों के वशीभूत होकर मन, वचन, काय से कर्मों का संचय करता है। जैसे दूध और पानी परस्पर मिल जाते हैं, वैसे ही कर्म पुद्गल के परमाणु आत्म प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार लौह–पिण्ड को अग्नि में डाल देने पर उसके कण–कण में अग्नि परिव्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के असंख्यात प्रदेशों पर अनन्त–अनन्त कर्म वर्गणाओं के पुद्गल संश्लिष्ट हो जाते हैं।

जीव अनादि काल से संसारी है। दैहिक स्थितियों से जकड़ी हुई आत्मा के क्रियाकलापों में शरीर (पुद्गल) सहायक एवं बाधक होता है। आत्मा का गुण चैतन्य और पुद्गल का गुण अचैतन्य है। आत्मा एवं पुद्गल भिन्न धर्मी हैं फिर इसका अनादि प्रवाही संबंध है। आत्मा एवं शरीर के संयोग से "वैभाविक" गुण उत्पन्न होते हैं। ये हैं – पौद्गलिक मन, श्वास–प्रश्वास, आहार, भाषा। ये गुण न तो आत्मा के हैं और न शरीर के हैं। दोनों के संयोग से ही ये उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की मृत्यु के समय श्वास–प्रश्वास, आहार एवं भाषा के गुण तो समाप्त हो जाते हैं, किन्तु पुद्गल–कर्म के आत्म प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाने के कारण एक "पौद्गलिक शरीर" उसके साथ निर्मित हो जाता है, जो देहान्तर करते समय उसके साथ रहता है।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शब्द रूप मूर्त–पुद्गलों का निमित्त पाकर अर्थात् शरीर की इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण करने पर आत्मा रोग–द्वेष एवं मोह रूप में परिणगमन करती है, इसी से कर्मों का बंधन होता है। कर्मों का उत्पादक मोह तथा

उसके बीज राग एवं द्वेष हैं। कर्म की उपाधि से आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो जाता है। कर्मों के बंधन से आत्मा की विरूप अवस्था हो जाती है। बंधनों का अभाव अथवा आवरणों का हटना ही मुक्ति है। मुक्ति की दशा में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाती है।

इस तथ्य को भारतीय दर्शन स्वीकार करते हैं। आत्मा के "आवरणों" को भिन्न नामों द्वारा व्यक्त किया गया है, किन्तु मूल अवधारणा में अंतर नहीं है। आत्मा के आवरण को जैन दर्शन कर्म–पुद्गल, बौद्ध दर्शन तृष्णा एवं वासना, वेदान्तदर्शन अविद्या–अज्ञान के कारण माया तथा योग दर्शन "प्रकृति" के नाम से अभिहित करते हैं।

आवरणों को हटाकर मुक्त किस प्रकार हुआ जा सकता है? कर्त्तावादी सम्प्रदाय परमेश्वर के अनुग्रह शक्तिपात, दीक्षा तथा उपाय को इसके हेतु मान लेते हैं। जो दर्शन जीव में ही कर्मों को करने की स्वातंत्र्य शक्ति मानकर जीवात्मा के पुरूषार्थ को स्वीकृति प्रदान करते हैं तथा कर्मानुसार फल–प्राप्ति में विश्वास रखते हैं, वे साधना मार्ग तथा साधनों पर विश्वास रखते हैं। कोई शील, समाधि तथा प्रज्ञा का विधान करता है, कोई श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का उपदेश देता है। जैन दर्शन सम्यक्–ज्ञान, सम्यग्–दर्शन और सम्यक्–चारित्र के सम्मिलित रूप को मोक्ष–मार्ग का कारण मानता है।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि जो कर्म करता है वही उसका फल भोगता है। जो जैसा कर्म करता है उसके अनुसार वैसा ही कर्मफल भोगता है। इसी कारण सभी जीवों में आत्मशक्ति होते हुए भी कर्मों की भिन्नता के कारण जीवन की नाना गतियों, योनियों, स्थितियों में भिन्न रूप में परिभ्रमित हैं। यह कर्म का सामाजिक संदर्भ है। सामाजिक स्तर पर कर्मवाद व्यक्ति के पुरूषार्थ को जागृत करता है। यह उसे सही मायने में सामाजिक एवं मानवीय बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। उसमें नैतिकता के संस्कारों को उपजाता है। व्यक्ति को यह विश्वास दिलाता है कि अच्छे कर्म का फल अच्छा होता है तथा बुरे कर्म का फल बुरा होता है। राग–द्वेष वाला पापकर्मी जीव संसार में उसी प्रकार पीड़ित होता है जैसे विषम मार्ग पर चलता हुआ अन्धा व्यक्ति। प्राणी जैसे कर्म करते हैं उनका फल उन्हें उन्हीं के कर्मो द्वारा स्वतः मिल जाता है। कर्म के फल भोग के लिये कर्म और उसके करने वाले के अतिरिक्त किसी तीसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। समान स्थितियों में भी दो व्यक्तियों की भिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ कर्म भेद को स्पष्ट करती हैं।

कर्म वर्गणा के परमाणु लोक में सर्वत्र भरे हैं, हमें कर्म करने ही पड़ेंगें।

शरीर है तो क्रिया भी होगी। क्रिया होगी तो कर्म वर्गणा के परमाणु आत्म प्रदेशों की ओर आकृष्ट होंगें ही। तो क्या हम क्रिया करना बंद कर दें? क्या ऐसी स्थिति में सामाजिक जीवन चल सकता है?

महावीर ने इन जिज्ञासाओं का समाधान किया। उन्होने अहिंसा के प्रतिपादन द्वारा व्यक्ति के चित्त को बहुत गहरे से प्रभावित किया, उन्होंने लोक के जीव मात्र के उद्धार का वैज्ञानिक मार्ग खोज निकाला। उन्होंने संसार में प्राणियों के प्रति आत्मतुल्यता भाव की जागृति का उपदेश दिया। शत्रु एवं मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखने का शंखनाद किया। यहाँ आकर आध्यात्मिक दृष्टि एवं सामाजिक दृष्टि परस्पर पूरक हो जाती है।

कर्म सिद्धान्त में समाज एवं न्याय व्यवस्था पर विचार करने के पूर्व पुण्य एवं पाप प्रकृतियों के बंध के कारण पर दृष्टि डालना समीचीन होगा। जैन दर्शन के अनुसार पुण्य प्रकृतियाँ बंधने के नव प्रकार बताए गये हैं –

1. अन्न पुण्य – अन्नदान
2. पान पुण्य – पीने की वस्तु देने से
3. वत्थ पुण्य – वस्त्र दान
4. लयन पुण्य – स्थान देने से
5. शयन पुण्य – शयन स्थान सुविधा बिछौने आदि।
6. मन पुण्य – मन में शुभ विचारों से
7. वचन पुण्य – शुभ वचन से
8. काया पुण्य – शरीर से शुभ अनुकूल मनोज्ञ करने से
9. नमस्कार पुण्य – बड़ों गुरूजनों, माता–पिता आदि को नमस्कार करने से।

शुभ पुण्य कर्मों के फल निम्न प्रकार से बताए गए हैं–

1. परोपकार से अनायास लक्ष्मी प्राप्त होती है।
2. सुविधा दान से मेधावी होता है।
3. रोगी वृद्ध आसक्त जनों की सेवा से शरीर निरोगी व स्वस्थ होता है।
4. देव–गुरू–धर्म की विशिष्ट भक्ति से जीव तीर्थंकर गोत्र का बंध कर सकता है।
5. जीव दया से सुख साधन मिलते हैं।
6. वीतराग संयम से मोक्ष प्राप्ति होती है।

इसके विपरीत पाप प्रकृति बांधने के 18 हेतु बताए गए हैं–

1. प्राणातिपात –जीव हिंसा,
2. मृषावाद– असत्य
3. अदत्तादान – चोरी
4. मैथुन
5. परिग्रह
6. क्रोध
7. मान
8. माया
9. लोभ
10. राग
11. द्वेष
12. कलह
13. अभ्यास्थान (झूठा कलंक)
14. पैशून्य (चुगली)
15. परपरिवाद – दूसरों की निंदा, अनुचित टीका टिप्पणी
16. रति–अरति
17. माया–मृषावाद
18. मिथ्यादर्शन–शल्य

अशुभ कर्म व उनके फल निम्न प्रकार बताए गये हैं –

1. हरे वृक्षों के काटने–कटाने से व पशु हिंसा से संतान नही होती है।
2. गर्भ गिराने से बांझपन होता है।
3. कन्द मूल या कच्चे फलों को तोड़ने से गर्भ में ही मृत्यु होती है या अल्पायु होती है।
4. मधुमक्खियों के छत्ते जलाने या तुडाने से या देव–गुरू की निन्दा से प्राणी अंधे बहरे और गूंगे होते हैं।
5. परस्त्री/परपुरूष सेवन से पेट में पथरी आदि व्याधियाँ होती हैं।
6. पति को सता कर कष्ट देने से बाल विधवा होती है।
7. नियम लेकर भंग करने से लघुवय में स्त्री पति वियोग होता है।
8. किसी के संतान का वियोग करने से लघुवय में माता–पिता की मृत्यु हो जाती है।
9. दम्पत्ति में झगड़ा कराने से पति–पत्नि में अशान्ति रहती है।

जैन दर्शन के अनुसार शुभ–अशुभ कर्म प्रकृतियों के बंध के उपरोक्त कारण बताए गए हैं, इनको ही ध्यान में रखते हुए हमारे व्यक्ति, समाज, परिवार के रहन–सहन की व्यवस्था एवं नियम निर्धारित किए गए हैं।

समाज की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति है– उसके बाद परिवार एवं फिर समाज एवं राष्ट्र। सबसे पहिले कर्म सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति की जीवन व्यवस्था पर दृष्टि डालना उचित होगा। जैन दर्शन में कर्म एक विशिष्ट सिद्धान्त है जो प्रतिपादित करता है कि व्यक्ति को अपने शुभ अशुभ कर्मों का फल स्वतः अवश्य भोगना ही पड़ता है और अपने सुख–दुख के लिये वह स्वयं जिम्मेदार है अन्य कोई

नहीं। कर्म सिद्धान्त व्यक्ति समाज या परिवार के रहन–सहन की प्रक्रिया नियम या दिशा निर्देश नहीं देता। यद्यपि व्यक्ति, परिवार के लिए व्रत नियम–अणुव्रत आदि अलग से निर्धारित किए गए हैं। एक व्यक्ति अपने आप में स्वतंत्र होता है। पारिवारिक बन्धन उसके लिए नहीं होते। विभिन्न धर्मों एवं दर्शनशास्त्रों में मीमांसित कर्म सिद्धान्तों को वह चाहे समझे न समझे लेकिन उसका व्यवहार एवं आचरण ऐसा नहीं हो सकता कि वह अन्य व्यक्तियों के कष्ट का कारण बन जाए। सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति भी यह समझता है कि वह दूसरों के सुख का कारण बनकर ही दूसरों से सुख प्राप्ति का कारण बन सकता है, जितना मान–सम्मान–स्नेह आत्मीयता का भाव वह दूसरों के प्रति रखेगा, उसे भी बदले में वैसा ही स्नेह सम्मान मिलेगा। अगर वह दूसरों का अपमान करता है, प्रताडित करता है तो वह स्वयं भी वैसा ही अपमान और प्रताड़ना प्राप्त करेगा। व्यक्त–अव्यक्त रूप से यही कर्म सिद्धान्त है।

पाप, पुण्य प्रकृतियों के बंध एवं उनके शुभ–अशुभ का फल जानकर व्यक्ति का आचार, विचार–व्यवहार बहुत कुछ बदलेगा। पुण्य प्रकृति के उदय से उसे सुख शान्ति और समृद्धि प्राप्त होगी, समाज में सम्मान प्राप्त होगा। शुभ कर्मों के शुभ फल तो अवश्य ही प्राप्त होंगें, उन्हें कभी कोई रोक नहीं सकता। परिवार की व्यवस्था कुछ अलग हो सकती है, लेकिन व्यक्ति स्वयं पाप–पुण्य प्रकृति बन्ध के सिद्धान्त के अनुसार अपनी आचार संहिता निर्धारित कर सकता है।

समाज की व्यक्ति के बाद दूसरी इकाई परिवार है। सभी मतों के अनुसार गृहस्थ धर्म सबसे श्रेष्ठ है। अगर गृहस्थ धर्म न हो तो संसार ही समाप्त हो जाए। गृहस्थ सभी का पालन पोषण करता है। जिस युग में परिवार व्यवस्था नहीं थी तब घोर अव्यवस्था रही होगी, न किसी का कोई पति, न पत्नी, न किसी की सन्तान– सब तरह से अशान्ति अव्यवस्था। इसी सुव्यवस्था बनाए रखने के लिये परिवार की संरचना की गई। स्त्री–पुरूष के विवाह संस्कार निर्धारित किए गए। धर्म, देव, गुरू जनों की साक्षी में विवाह सम्पन्न किए जाने लगे। सन्तानोत्पत्ति हुई। उनके शिक्षा–दीक्षा संस्कार की जिम्मेदारी परिवार जनों पर निर्धारित हुई। माता–पिता दोनों अपने घर–व्यापार, व्यवसाय आदि की जिम्मेदारी निभाने लगे। पहले बताए गए शुभ–अशुभ पाप–पुण्य कर्मों के अनुसार ही गृहस्थों के नियम निर्धारित किए गए। गृहस्थों को जो नियम लेने होते हैं उन्हें अणुव्रत कहा जाता है, जो बारह निम्न प्रकार से हैं।– 1. पाँच अणुव्रत, 2. तीन शिक्षा व्रत 3. चार गुणव्रत।

ये बारह श्रावक के व्रत हैं नियम हैं – आचार संहिता है। परिवार समाज की इकाई है, शुभ अशुभ कर्मों के शुभ अशुभ फल तो प्राप्त होते ही हैं। सामान्य रूप

से सभी मत वाले न्यूनाधिक इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, लेकिन फिर भी परिवार को सुचारू रूप से, सुख शान्ति पूर्वक चलाने के लिए कुछ नियम कुछ व्रत आवश्यक हैं। जैन दर्शन में उपरोक्त 12 व्रत निर्धारित किए गए हैं। प्रत्येक गृहस्थ श्रावक–श्राविका को यह नियम लेने चाहिए। गृहस्थ धर्म चूँकि सर्वश्रेष्ठ अत्यन्त महत्वपूर्ण चारों पुरूषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन है, अतः इसका सुचारू, निर्द्वन्द और सफल रूप में गतिशील रहना भी आवश्यक है और इनके नियम भी आवश्यक हैं। सर्वविदित है आज के युग में घर परिवार में कितने द्वन्द क्लेश हैं, जिसकी वजह से परिवार के समस्त सदस्य भयंकर रूप से त्रस्त रहते हैं, परिवार टूट रहे हैं, बच्चों का जीवन कष्टमय हो रहा है, जितना अधिक क्रोध–मान एवं अन्य कषाय भाव बढ़ रहे हैं, परिवार में संताप, तनाव और अंततः विघटन होता जा रहा है। अगर परिवार के सदस्य पुण्य–पाप प्रकृति बंध के कारण और उनके प्रभाव को समझेंगें, 12 व्रतों के अनुसार अपने आपका आचरण व्यवस्थित रखें तो कोई कारण नहीं कि परिवार में क्लेश कष्ट और अमंगल हो। अहिंसा–मात्र जीव हिंसा ही नहीं, अपितु किसी भी प्राणी के मन को मन, वचन, कर्म से कष्ट देना ही हिंसा है। अतः त्याज्य है। ब्रह्मचर्य – स्वपति–पत्नि सन्तोषव्रत है, स्त्री पुरूष अपने पति पत्नी के अलावा अन्य किसी से भी कुशील संबंध न रखे तो परिवार की बहुत सी समस्याएँ स्वतः हल हो जाएगी। इसी प्रकार अपरिग्रह व्रत है एक सीमा में धन सम्पत्ति रखने से व्यक्ति की अनन्त उलझनें लोभ, मोह की प्रवृतियाँ कम हो जाएगी। असीमित धन, ऐश्वर्य की कामनाएं मानव को हमेशा अशान्त ही रखेंगी।

जैन दर्शन में ये व्यवस्थाएं कर्मफल के सिद्धान्तों के अनुरूप ही की गई हैं। श्रावक के व्रतों में शुद्ध भोजन पान, मद्य मांस निषेध, गुरूजनों की विनय, अतिथि सेवा आदि बहुत कुछ समाविष्ट हैं, जिसके आचरण से परिवार सुखी समृद्ध रह सकता है।

व्यक्ति एवं परिवार समाज की छोटी इकाईयाँ हैं, थोड़ा समग्र समाज के संबंध में भी विचार करना आवश्यक है। हम लोग पहिले भारतीय समाज व्यवस्था पर ही मुख्य रूप से दृष्टि डालेंगें। महावीर के समय भारतीय समाज अत्यन्त ही विकृत अवस्था में था, मनुवादी वर्ण व्यवस्था भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी और उसका निकृष्ट रूप महावीर के समय में था। एक ब्राह्मण वर्ग चाहे वह कितना ही निरक्षर, अज्ञानी, आचारहीन हो अपने आपको सर्वोपरि यहाँ तक कि ईश्वर के समान मानता था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ यागादि बड़े–बड़े भव्य आयोजन कराए जाते थे। एक–एक यज्ञ में हजारो पशुओं की बलि दी जाती थी। धर्म के ठेकेदार–पुरोहित वर्ग उनसे अपने स्वार्थ साधन करते थे, मांस भक्षण करते

थे, राजाओं से असीमित दक्षिणा के रूप में धन–धान्य लेते थे। हिंसा, लोलुपता, दुराचरण चरम सीमा पर था। अन्य वर्ग क्षत्रिय था, निरंकुश राजा था। प्रायः सभी मद्य मांस सुन्दरियों के भोग में लिप्त रहते थे। राज्य सुख का उपभोग करना उनका जन्मसिद्ध अधिकार था। मुख से जो कुछ निकल गया शब्द अटल हो जाता था। लूटपाट युद्ध साधारण थे। लाखों मानवों की हत्या एक – एक युद्ध में सामान्यतः हो जाती थी। सबसे निम्न वर्ग शुद्रों का था। सेवा करना उनका कार्य था धर्म था। वे ब्रह्माजी के पाँव से उत्पन्न हुए थे, ऐसी मान्यता थीं। उन्हें सामान्य जीवन जीने का कोई अधिकार नहीं था। उनकी छाया भी सवर्ण पर पड़ जाए तो वह अशुद्ध हो जाता था, कभी पेट भर भोजन भी उन्हें नसीब नहीं होता था। मंदिर आदि की बात तो क्या किसी सवर्ण के घर की चहारदीवारी में भी वे प्रवेश नहीं कर सकते थे। वे बाजार में सब्जी भाजी की तरह बिकते थे।

ऐसी विषम परिस्थितियों में महावीर ने जन्म लिया। वे महान सुधारक थे, क्रांतिकारी थे। इतना आत्मबल उनमें था कि उन्होंने सम्पूर्ण समाज की सोच–विचार की दिशा ही बदली। वे युगान्तरकारी थे, उन्होने कहा कि जन्म से कोई बड़ा नहीं होता, जन्म से कोई छोटा नहीं होता। छोटे से छोटा क्षुद्र निगोदी जीव या बड़े से बड़ा मानव या देव सबकी आत्मा समान होती है। आत्मा के सभी गुण व्यक्त–अव्यक्त रूप में सभी आत्मा में समान रूप से रहते हैं। कोई भी जीव उचित पुरूषार्थ करने पर समयानुसार श्रेष्ठतम गति प्राप्त कर सकता है। उन्होंने कहा –

"कम्मणा बम्मणा होई – कम्मणा होई खतियो"

कर्म से ही ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय होता है। उस समय महावीर की बात बहुत ही क्रांतिकारी थी। जन्म से नहीं श्रेष्ठ कर्म से ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र होता है। उन्होंने शूद्रों को भी वह स्थान दिया जो उच्चतम वर्ग के ब्राह्मणों को था। शुभ कर्म करने से शुद्र भी ब्राह्मण और उससे भी श्रेष्ठ पद का अधिकारी हो सकता है – कर्म की महिमा और श्रेष्ठता बताने वाले सर्वप्रथम युगान्तकारी महावीर ही थे।

आज के युग में भी साम्यवादी विचारधारा के निहित सिद्धान्त यही हैं। महावीर सबसे पहले चिन्तक साम्यवादी विचारधारक थे। उन्होंने शोषित वर्ग को शोषण मुक्त समाज में लाने का उपक्रम किया। वहीं शोषणमुक्त समाज की चिन्तन धारा महावीर के विचारों में जन्म ले चुकी थी। फर्क सिर्फ इतना है कि आज का साम्यवाद हिंसा नरसंहार में विश्वास करता हैं, जबकि महावीर विचारों में परिवर्तन करते थे। वे हिंसात्मक विचारों के बिना स्नेह, अहिंसा, विश्वप्रेम के आदर्शों से समाज

की धारा में परिवर्तन लाए। बहुत कुछ परिवर्तन हुआ, आज विश्व में जो शान्ति समभाव है, वह महावीर की ही देन हैं। संसार सुख–दुःख मय ही हैं। प्रत्येक संसारी जीव के साथ सुख–दुख सर्वदा के लिए जुड़े हुए हैं। कभी सावन के मेघों की तरह सुखो की लहर उमड़ती है तो कभी दुःखों के झंझावत प्रलय की तरह आ जाते हैं। क्षणभर में भयंकर दुर्घटनाएँ हो जाती हैं और हँसते खेलते परिवार दुःखों के सागर में डूब जाते हैं। युद्ध होते हैं, लाखों मनुष्य काल के गर्त में समा जाते हैं उनके परिवारजन जीवन दुःखों की त्रासदी झेलते रह जाते हैं।

विचारणीय है कि क्या ये सब घटनाएँ महज संयोग मात्र हैं या अगर ईश्वर है तो उसकी इच्छा से ही ये सब महान् नरसंहार व हिंसा होती है। वह स्वयं अपने मन से या हृदय की सन्तुष्टि के लिये सबको सुखों के उपहार या दुःखों की आपदाएँ दे देता है। निस्संदेह ऐसा नहीं होगा। अगर कार्य–कारण पर विचार किया जाए तो इसी निष्कर्ष पर हम पहुँचेगें कि प्रत्येक जीव को सुख–दुःख अपने वर्तमान अथवा पूर्व कर्मों से ही प्राप्त होते हैं। अगर यह किसी न किसी रूप में निश्चित मान लिया जाए कि सभी प्राणी अपने कर्मों का शुभ–अशुभ फल भोगते हैं तो यह अपने आप में स्वतः सम्पूर्ण न्याय व्यवस्था है। सिद्धान्त रूप से फिर किसी न्याय व्यवस्था की आवश्यकता नहीं रह जाती, लेकिन समाज एवं राष्ट्र में अपनी विशेष न्याय व्यवस्था की आवश्यकता नहीं रह जाती, लेकिन समाज एवं राष्ट्र में अपनी विशेष न्याय व्यवस्था सर्वदा अवश्यंभावी मानी गई है। सभी व्यक्ति परोपकारी, दयालु, धर्मशील नहीं हो सकते और व्यक्ति बिना कुछ पुरूषार्थ के रातोंरात अविलम्ब प्रभूत धन लाभ करके सांसारिक सुख प्राप्त करना चाहते हैं, उसके लिए सहज उपाय के रूप में चोरी, हिंसा, कपट आदि के रास्ते अपनाने लगते हैं। कभी–कभी उन्हें तत्काल अर्थलाभ हो भी जाता है। वे यह नहीं सोच पाते या विश्वास नहीं कर पाते कि उन्हें अपने अशुभ कर्मों का फल भविष्य में भोगना पड़ेगा। वे प्रत्यक्ष तत्काल अर्थलाभ ही देख पाते हैं। विडंबना यह भी है कि कर्म पुदग्ल परमाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे बंधते–फल देते–सब होते आंखों से दिखाई नहीं देते। जबकि अर्थ लाभ, धन–सम्पत्ति की प्राप्ति दिखाई देती है और उस लाभ को कई प्राणी छोड़ नहीं पाते। ऐसे लोगों के लिए जो असामाजिक है हिंसक, चोर, तस्कर हैं ऐसी न्याय व्यवस्था आवश्यक है जो उन्हें उचित दंड दे सके और वे लोग समझ सकें कि अनैतिक कार्यों का फल तत्काल इस रूप में भी उन्हें मिलेगा। प्रत्येक देश की सरकार जिस पर जनता की शांति सुरक्षा की जिम्मेदारी है ऐसी शासन व्यवस्था उन्हें करनी होती हैं; पूरा पुलिस, खुफिया–सेना, सुरक्षाबल होते हैं। न्यायालय होते हैं जहाँ अपराधों की जाँच होती है और

अपराधियों को सजा दी जाती है।

यद्यपि यह सब हैं, सुरक्षा–न्याय व्यवस्था सरकार करती हैं, लेकिन अनैतिक अशुभ कर्मों का फल तो अपराधी को भोगना ही होता है। वह किसी भी रूप में हो सकता है। अगर एक हिंसा का या चोरी का अपराधी जेल जाता है तो वह भी अशुभ कर्मों का फल ही माना जाएगा, चाहे वह सरकारी या न्यायाधिकारियों के माध्यम से ही हो। अगर कदाचित् किन्हीं कारणों से वह जेल की सजा से बच जाता है तब भी वह समाज की नजरों से गिर जाता है, उसका मान–सम्मान समाप्त हो जाता है, सब जगह तिरस्कृत हो जाता है। उसे अपना जीवन पुलिस वालों से भागकर उनकी नजरों से छिपाकर ही गुजारना होता है। जीवन की सुख शान्ति उससे दूर रहती है। यह भी दूसरे प्रकार का अशुभ कर्म फल है।

कई बार आकस्मिक भयंकर कष्ट कई प्राणियों के जीवन में आते हैं, कभी असाध्य बीमारी हो जाती है। कभी व्यापार घाटा हो जाता है, कभी दुर्घटना में अपंगता हो जाती है, कभी मृत्यु भी हो जाती है, कभी प्रिय परिवारजनों का वियोग हो जाता है, ये सभी बिल्कुल संयोगमात्र नहीं, अतीत के अशुभ कर्मों के फल ही माने जाऐंगे, जो कभी तो तत्काल और कभी लम्बी अवधि के बाद भी फलीभूत हो सकते हैं। कठिनाई यही है कि प्रायः सर्वदा अशुभ कर्म और उनके फल में कार्य–कारण भाव स्पष्ट प्रतीत नहीं होता दिखता। यही कारण है कि संसार में अनिष्ट कर्म हिंसा, चोरी, कपट आदि समाप्त नहीं होते तथा लोभ, कषाय भाव संसारी प्राणी में न्यूनाधिक में सदैव विद्यमान है और रहेगा। लेकिन कर्म एवं उनके फल का सिद्धान्त अटल है और सर्वदा रहेगा।

कर्म सिद्धान्त एवं समाज न्याय व्यवस्था

डॉ. विमलाजैन (विमल)
1/344 सुहागनगर, फिरोजाबाद (उ.प्र.)

कर्म सिद्धान्त की ज्योति ले, जीव बने भगवन्त,
न्याय व्यवस्था सुदृढ़ हो, व्यक्ति समाज जयवन्त।।

विश्व के सभी धर्म और दर्शन, संस्कृति और सम्प्रदाय तथा लोक जीवन शैली में कर्म सिद्धान्त को किसी न किसी रूप में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। संसार की विविधता और जीवन की विभिन्नता एवं विषमताओं का उत्तरदायी भी कर्म को माना गया है। आधुनिक विज्ञान के नवीन अनुसन्धान भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कर्ता और भोक्ता अर्थात् "जैसी करनी वैसी भरनी" का प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष सम्बन्ध अवश्य है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भावकर्म और द्रव्यकर्म के मनोभाव या प्रभाव को मानकर ही अपने सिद्धान्त की विवेचना करता है। शब्द कोष में कर्म को कई अर्थों में अलग–अलग तथा साथ में विवेचित किया गया है। कर्म का अर्थ–कार्य, काम, कृत्य तथा क्रियाशीलता अथवा धार्मिक कृत्य या निष्काम कृत्य कहकर उल्लेखित किया है। साथ ही भाग्य, दैव विधि का विधान, प्रारब्ध, किस्मत, नसीब, लक (LUCK) आदि भी कहा गया है। सामान्यतः जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति कर्म है, श्रम को भी कर्म कहा है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में उत्पेक्षण, अवक्षेपणा, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन रूप पाँच प्रकार की क्रियाओं के लिये "कर्म" शब्द का प्रयोग किया गया है। योग दर्शन में संस्कार को "कर्म" माना है, बोद्ध दर्शन में "कर्म" वासना स्वरूप है। इस प्रकार "कर्म" जीव के स्वकृत्य (पाप–पुण्य कर्म) के लेखा–जोखा अर्थात् जन्म–जन्मान्तर के कर्म पुरूषार्थ को कहा है। जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त की मौलिक विवेचना है, आगम में कर्म सिद्धान्त को दर्शन का प्राण कहा गया है। ये कर्म ही संसार के कारण हैं और अनादि काल से जीव को संसार भ्रमण करा रहे हैं। जैसे ही जीव की कर्म से भिन्नता होती है जीव शुद्ध–बुद्ध सिद्ध स्वरूप बन जाता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से प्रत्येक जीव में स्वतंत्र सत्ता एवं कर्मठता अर्न्तनिहित है, परन्तु पूर्व कृत कर्म जीव को परतंत्र किये हुये हैं अतः सम्यक् कर्म पुरूषार्थ से भव्य जीव स्वतंत्र सत्ता प्राप्त कर सकता है। जैन दर्शन में कर्म को पुद्गल परमाणुओं का

पिण्ड माना है। सामान्यतः पुद्गल परमाणु कर्म रूप में परिणत होते हैं और उन्हें "कर्म वर्गणा" कहते हैं। जो शरीर रूप मे परिणत होते हैं उन्हें "नो कर्म वर्गणा" कहते हैं। इन कर्मों को जीव अपनी मन–वचन–काय की प्रवृत्ति से ग्रहण करता है, अर्थात् मन–वचन–एवं कायिक क्रिया ही पुद्गल परमाणु के पिण्ड रूप कर्म है जो द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म तथा भाव कर्म राग–द्वेषादि के रूप में आश्रव हो बन्ध को प्राप्त होते हैं। इन्हीं कर्मो का तदनुरूप फलीभूत होते रहना "कर्म सिद्धान्त" है। कर्म की विवेचना में जैनदर्शन ने जो सत्य उद्घाटित किया है शिवम् की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति है जिसे वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में प्रयोगात्मक शैली से आंका जा सकता है। कर्म को भाग्य रूप में अदृश्य शक्ति तथा कर्म पुरूषार्थ में संकल्प शक्ति तथा साहस एवं अध्यवसायी लगनशीलता में देखते हैं। कर्म भूमि, कर्म युग, कर्म योग, कर्मवाद, कर्म रेखा, कर्म काण्ड, कर्म मीमांसा, कर्मशील, कर्म निष्ठ आदि शब्द श्रृंखला में कर्म को भिन्न–भिन्न भावार्थ में लिया गया है परन्तु सामान्यतः पूर्व कृत कर्म पुरूषार्थ अदृश्य शक्ति और वर्तमान मानवीय कर्म पुरूषार्थ की विवेचना ही लौकिक फलश्रुति के रूप में मुख्य है। इस गवेषणात्मक परिचर्चा में श्रेष्ठ कर्म (पुण्य कृत्य) तथा निकृष्ट कर्म (पाप) को "कर्म बीज" की संज्ञा दी है।

इसी प्रकार "कर्म सिद्धान्त" जो धर्म का मुख्य अंग अथवा दर्शन प्राण है मानव को जीवन जीने की कला सिखाता है, "कला शिवम् की उपलब्धि के लिये सत्य की सौन्दर्यमयी उपलब्धि है।" मानव बिन्दु है और समाज सागर है, बिन्दु–बिन्दु से सागर बना है और सागर की हर तरंग (व्यवस्था) बिन्दु को प्रभावित करती है। समाज में मानव ही नही प्राणी मात्र एक दूसरे का सहयोगी होता है। "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" का सूत्र सामाजिक व्यवस्था का ही स्वरूप है। "कर्म सिद्धान्त" का आध्यात्मिक पक्ष द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म) भावकर्म और नौकर्म की विस्तृत विवेचना कर इन कर्म वर्गणाओं से मुक्ति का मार्ग बताता है यह मोक्ष पुरूषार्थ निवृति मार्ग है अतः यहाँ इसकी परिचर्चा प्रयोजनीय नहीं हैं।

कर्म सिद्धान्त का लौकिक या व्यवहारिक पक्ष कर्म पुरूषार्थ है जिसे "कर्म योग" कहा गया है गीता में क्रिया शीलता एवं कर्त्तव्य निष्ठा के साथ कार्य करने को श्रेयस्कर कहा है– "योगः कर्मसु कौशलम्" तथा "कर्म ज्यायो ह्य कर्मणः" कह कर कृत्यकार के कर्तृत्व को श्रेष्ठतम कहा है। मानव कर्म योगी बन परम इष्ट को प्राप्त करता है। अतः कर्म पुरूषार्थ के समर्थन में कहा है–

"उद्यमेनेहि सिद्धन्ति कार्याणि न मनोरथैः।"

यहाँ उद्यमशील कर्म पुरूषार्थी को ही कार्य सिद्धि अर्थात् सफलता की प्राप्ति

कही है। वैसे भी "वैभव विक्रम का दास है" ऐसी युक्ति है। पुरूषार्थी संकल्पित होकर कहता है–

"कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य अहितः।"

अर्थात् पुरूषार्थ मेरे दाहिने हाथ में हैं और सफलता वाये हाथ में। इस विश्वास के साथ कर्म योगी कर्म क्षेत्र में प्रवेश करता है वहाँ सफलता मिलती ही है यह अनुभव जन्य भी है। भाग्य और पुरूषार्थ की इतनी परिचर्चा से यह स्पष्ट हो गया है कि जीवन जीने के लिये भाग्य और पुरूषार्थ दोनों ही चाहिये "नैकं चक्रं परिभ्रमित" के अनुसार एक चक्र से रथ नहीं चलता उसी प्रकार भाग्य और पुरूषार्थ दोनों ही चाहिये, भाग्य का लिपिकार पुरूषार्थ है अतः मानव को सम्यक् प्रकार से पुरूषार्थ करना ही श्रेयकर है। मानव सामाजिक प्राणी है। (Man is a social animal) वह बिना समाज के जीवन जी नहीं सकता, समाज व्यक्ति के लिये है और व्यक्ति समाज के लिये अथवा लौकिक जीवन जीने की प्रक्रिया को ही मानव का समाजीकरण कहा गया है। "संघे शक्तिः कलियुगे" अनुसार वर्तमान (कलियुग) में संघ या समाज की शक्ति विशेष प्रयोजनीय है, कोई भी समाज यदि अनुशासित नहीं हैं उसकी न्याय व्यवस्था सुचारूता में नहीं चल रही तो सुखशान्ति बनी रहे यह असम्भव है।

समाज और व्यक्ति का अभिन्न सम्बन्ध है, व्यक्तित्व का निखार सामाजिक उत्तरदायित्व है और समाज में न्याय व्यवस्था बनाये रखना, असामाजिक कृत्य न करना, समाज हित को सर्वोपरि मान्यता देना व्यक्ति के कर्त्तव्य में आता है। समाज न्याय व्यवस्था में अन्यायी को दण्ड देना अनिवार्य है ताकि अन्य कोई और भी अन्याय करने का साहस न कर सके। जिसके साथ अन्याय हुआ है उसे संरक्षण देना यथायोग्य न्याय दिलाना आवश्यक है। समाज में प्रजातंत्र को महत्व राजतंत्र के विरोध में इसीलिये दिया गया है कि "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकाः समस्ताः सुखिनो–भवन्तु" को समाजहित में देखा गया। "न्याय पालिका"–न्याय व्यवस्था की सर्वोपरि संस्था है यहाँ अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न एवं हिंसात्मक कृत्य की सजा दी जाती है। शारीरिक और मानसिक आघात पहुँचाने वाले को दण्ड दिया जाता है। परन्तु कर्म सिद्धान्त कायिक और वाचनिक अन्याय करने वाले को ही नहीं मन में विचार लाने वाले अर्थात् "भावकर्म" को भी पकड़ता है। शुभाशुभ (पुण्य–पाप) विचार भावना, कामना, निदान सभी शुभाशुभ भावों को लेश्या के रूप में आश्रव और बन्ध का कारण मानता है। "कर्म सिद्धान्त" के अनुसार पाप–पुण्य कर्म का आरम्भ मन के विचारों से ही होता है अतः मन, वचन, काय, समरम्भ समारम्भ, आरम्भ तथा कृत, कारित अनुमोदना सभी का लेखा–जोखा रखता है। यहाँ "भावना भव नाशिनी" है

और भावना ही भव भ्रमण को बढ़ाने वाली है। मानव धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरूषार्थ करता है। ये चारो ही पुरूषार्थ जहाँ व्यक्ति को इष्ट प्राप्ति "श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्य येतः" अर्थात् श्रेय (शिव) और प्रेय (भोग) दोनों को चुनता है वहीं समाज की न्याय व्यवस्था बनी रहे इसमें भी सहयोगी रहता है। धर्म–दर्शन, नैतिकता, कला, संस्कृति, सभ्यता, परम्परा, रीति रिवाज सभी सामाजिक न्याय व्यवस्था के ही अंग हैं।

"कर्म सिद्धान्त" के माध्यम से मानव को "चार पुरूषार्थ करने की सम्यक् विधि बताई गयी है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरूषार्थ करके लौकिक और पारलौकिक सुख सम्पदा की प्राप्ति करे तथा वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और वैश्विक उत्थान तथा सुख शान्ति में भी सहयोगी होगा। इन सिद्धान्त सूत्रों से समाज न्याय व्यवस्था सुदृढ़ होगी, असामाजिक तत्व स्वयं समाप्त हो जायेंगें। "धर्म पुरूषार्थ" निवृति (मोक्ष) प्रधान हो, भौतिक स्वार्थ समाप्त हो, कर्त्तव्य निष्ठा सर्वोपरि हो। "अर्थ पुरूषार्थ" न्याय–नीति प्रधान हो, संग्रहवृत्ति, लोभ, मूर्च्छा, और आसक्ति, येन, केन, प्रकारेण अर्थार्जन की लालसा का परित्याग हो तो अन्याय, उत्पीड़न भ्रष्टाचार होगा ही नहीं। कर्म सिद्धान्त मानव की लोभ कषाय और कृष्ण नील कापोत लेश्या के परित्याग का पाठ पढ़ाता है। दान, परोपकार सेवा, वैयावृति अर्थ पुरूषार्थ में आवश्यक है। काम पुरूषार्थ सदाचार प्रधान हो, इन्द्रिय सुख संयमित नीतिगत हो; काम पुरूषार्थ भोग रस प्रधान ओर असंयमित होते ही व्याभिचार बन जाता है। ऐसी स्थिति में योनशोषण और बलात्कार की घटनायें बढ़ जाती हैं। जहाँ व्यक्ति एड्स जैसी घृणित बीमारियों का शिकार होता है वहीं परिवार संस्था भी खतरे में पड़ जाती है, समाज में नारियों की सुरक्षा न होने से, भ्रूण, शिशु, बाल युवा और वृद्ध सभी का जीवन अन्याय और उत्पीढ़न झेलता है। स्पर्शन इन्द्रिय ही नहीं रसना इन्द्रिय के भोग के लिये मद्य–माँसादि अभक्ष्य मानव को ही नही पशु–पक्षी सरीसृप, तथा प्राकृतिक वातावरण को भी दूषित कर देता है अतः कर्म सिद्धान्त यहाँ सर्व प्रथम मन–इन्द्रिय के संयम तथा ब्रह्मचर्याणुव्रत के द्वारा समाज की न्याय व्यवस्था पर अंकुश रखने का विधान बना देता है। मोक्ष पुरूषार्थ जीवन का ध्येय हो मात्र भाषणों में नहीं मानव प्रवृति मार्ग पर चलते हुये भी निवृति की भावना रखता है तो वह सांसारिक पंक में भी पंकज की तरह अलिप्त रह सुख सौरभ बिखेरने में समर्थ होता है।

जैन दर्शन "कर्म सिद्धान्त" की संजीवनी के रूप में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की तीन चिन्तामणियाँ देता है। सम्यग्दर्शन "वत्थु सहावो [illegible]मो" में वैज्ञानिक सत्य, और जीवन का शिवत्व समाया हुआ है। आत्मा स्व स्वभाव उत्तम क्षमा,

मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य इनसे आभांवित हो तो समाज की न्याय व्यवस्था में चार चाँद दिखाई देने लगेंगें। सम्यग्ज्ञान के आगे मिथ्यात्व का अंधकार समाप्त हो जाता है जहाँ ज्ञान की ज्योति उद्योदित होती है अज्ञान के साथ राग, द्वेष, मोहादि भी दूर हो जाते हैं, लोक ही नहीं अलोक भी दृष्टव्य होने लगता है और फिर यर्थाथता का दर्शन अन्याय–अनीतिकों को दूर करने में समर्थ हो जाता है। सम्यग्चारित्र की विवेचना विशेष प्रयोजनीय है। मानव के चारित्र या जीवन शैली से ही समाज और उसकी न्याय व्यवस्था चलती है। व्यक्ति–स्त्री–पुरूष अपने आचार–विचार और क्रिया कलापों से अपने जीवन का ही निर्माण नहीं करता अपितु अपने परिवार स्वजन–परजन, पूर्वज, अग्रज अनुज उनके लिये भी सुख–दुख का निर्माता होता है। समाज रूपी सागर व्यक्ति रूपी बिन्दुओं का समूह है यहाँ अमृत बिन्दु (शिष्ट व्यक्ति) और विष बिन्दु (असामाजिक तत्व) सागर को प्रभावित करती हैं अतः सम्यक् चारित्र के द्वारा मनुष्य को शिष्ट सुसंस्कृत और सुयोग्य बनाया जाता है। पंचाणुव्रत, अहिंसा, अमिथ्या, अचौर्य, अपरिग्रह और अमैथुन या ब्रह्मचर्याणुव्रत सामाजिक न्याय व्यवस्था के ही विधान है। मनुष्य जीवन में हिंसा झूठ, चोरी, कुशील ओर अतिधन लिप्सा ही अन्याय का कारण है। साथ ही सप्त व्यसन–जुआ खेलना, शराब पीना, माँस खाना, वैश्या व्यसन, पर स्त्री रमण, चोरी और आखेट खेलना–

जूयं मज्जं, मंसं, बेसा पारद्धि चोर पर यारं।
दुग्गइ – गमणस्से दाणि हेउ भूदाणि पावाणि।

ये सप्त व्यसन दुर्गति में ले जाने वाले पाप हैं साथ ही समाज न्याय व्यवस्था को नष्ट कर पर्यावरण प्रदूषण के कारण भी बनते हैं। मानव पाँच पाप और सप्त व्यसन का त्याग करदे, कानूनन इसको पूर्णतः रोक दिया जाय तो न्याय व्यवस्था बनाये रखना सुलभ हो जायगा। परिवार गठन का आधार मातृ स्नेह, पितृ प्रेम, दाम्पत्य–आसक्ति, अपत्य–प्रीति, अतिथि सत्कार, सेवा वैयावृति और सहकारिता समाज न्याय व्यवस्था की संजीवनी शक्ति बनकर उभरेगा। व्यक्ति संरक्षित तथा सम्वर्धित होगा, कर्म सिद्धान्त के सूत्र उसे संघर्षों में निराश या पलायनवादी नहीं होने देंगें। अपितु

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, किल्प्टेषु जीवेषु कृपा परत्वं।
माध्यस्थ भावं विपरीत वत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देवः।।

की भावना सभी जीवों से मित्रता, गुणियों के प्रति अनुराग, कष्ट में पड़े जीवों के प्रति उदारता सेवा वैयावृत्ति, धन से सहयोग (दान) तथा विपरीत वृत्ति वालों के साथ माध्यस्थ भाव, समता रखना ये ऐसे उदात्त गुण है कि मानव को देवत्व की

श्रेणी में ला देते हैं। समाज से स्वार्थपरता, अन्याय, उत्पीड़न, अत्याचार भ्रष्टाचार हटाने को इसी उदात्त भावना की आवश्यकता है जो केवल कर्म सिद्धान्त ही दे सकता है। चर्तुविध संघ संस्था, आश्रम प्रणाली, विवाह, कुल परम्परा परिवार, शिक्षा संस्कार, पुरूषार्थ, श्रावक–श्रमणचर्या सभी सम्यक् चारित्र के अन्तर्गत आते हैं जो समाज न्याय–व्यवस्था को सुचारूता का स्वरूप प्रदान करते हैं।

इस प्रकार विज्ञान की कसौटी पर खरा, मनोविज्ञान का सार तत्व, दर्शन का प्राण सिद्धान्त, धर्म का व्यवहार रूप "कर्म सिद्धान्त" समाज की न्याय व्यवस्था का ऊर्जा स्रोत ही नहीं मानव को मानवोत्तर बनाने की कुंजी है। भाग्यवादी भावना समता और सन्तोष के उदात्त भावों को बढ़ावा देती है तो कर्म पुरूषार्थ प्रगति के पथ को खोलता है। समाज न्याय नीति से व्यवस्थित रहे इसके लिये व्यक्ति के कर्त्तव्य निष्ठ सम्यक् चारित्र की ही आवश्यकता है। इसे व्यक्ति को बाल्यावस्था से ही मनोवैज्ञानिक पद्धति से बताना आवश्यक है। विश्व क्षेम की भावना सबका हित चिन्तन, दया करूणा और प्रेम पूर्ण भाव शुभ मनोयोग है। प्रिय सम्भाषण हित, मित, प्रिय सत्य को बोलना शुभ वचन योग हैं। सेवा, वैयावृति दान परोपकार करना शुभकाय योग है। यही समाज न्याय व्यवस्था का मूलाधार है।

Karma and Astrology

Varsha shah, Mumbai

Introduction

Astrology is the study of the relationship between the heavens and the earth, between man and the planet and as such is one of the oldest studies known, having played an important role in early highly developed civilization of the past from Egypt & Babylonia to India, China & South America.

From the earliest dawn of human intelligence man asked the questions Why ??? as he gazed in admiration and awe at the beauties of the midnight sky. As intelligence developed he learnt to make use of stars as a chart to guide him on his voyage and travels.

Auspicious nakstra was taken into consideration while undertaking a journey or performing some important work.

Jain as believed in the science of prognostication, fore-casting, predictions augury, omen, spell, charm, magic, there was plenty of literature on these subjects, much of which has gone into oblivision.

Bhattopala, the commentator of the Brhat-samhita has referred to number of such works and has cited quotations from them. But for an ascetic undergoing spiritual upliftment Jyotish Sastra was forbidden. It was regarded as papa-sastra Reference is given in uttaradyayana sutra, dasa- srtaskanda, samavayang sutra that there are 29 such forbidden, Papa-sastras but can take recourse to it only under exceptional situation like protection of jaina dharma or human welfare. Early preceptors like acarya Kalka, Bhadrabahu Sidhasena Diwaker, Visnukumara, Dharasena, Padalipta, Harikesa and others can be mentioned who employed various types of riddhi, siddhi, vidya, mantra, Yoga, curna, medicine, antidotes etc.

Karma & Astrology

In this paper, I have tried to compare karma & Astrology taken into consideration their peculiar nature and to what extent law of causaction can be applicable. Karma as a causative force:- The

jaina agama (sacred text) treat karma as the motive force of the cycle of existence.

The uttaradhyayana sutra 3.3-4

Egaya devaloesu, naryesu vi egaya
egaya asuram kayam, ahokammehim gacchai

The Jiva or soul sometimes is born in devaloka (the world of gods) sometimes in hell, sometimes it acquires the body of an asura all this happened due to karmas.

sutrakrtanga 1.2.3.18 observes.

savve sayakammakappiya aviyattena duhena panion hindanti
bhayavta saddha, jai-jara maranehi abhidduta

All living being owe their present form of existence to their own karman, timid, wicked, suffering latent misery, they err about (in the cycles of birth), subject to birth old age and earth.

Karma and human inequality

Jaina explains the phenomenon of inequality among human being as a product of good and evil karma. The mere presence of light from the sun is enough to create the sunset or sunrise or the rainbow or the halo. These change are all due to molecular arrangement in matter. The sunlight is not directly interfering with matter in producing changes. The changes are the necessary concomitants of the presence of light. Similarly the presence of emotional psychic states such as anger, greed, pride etc. however intangible & subtle are material in origin born of matter and manifested in different forms. Hence the *karmana pudgala* has the property of movement inflow (*asrav*) and accumulation (*bandh*). it is equally liable to be drained out or discharged (*nirjara*). The discharge of accumulated karma is brought about through *prayas* citta, *tapas, dhyana* and *svadhyaya*. Thus it is due to karmic matter that clings to jiva and clouds its instrinsic radiance that we experience pleasure, pain, and the condition of *samsaric* cycle.

Astrology as a causative force whether the astrological factor (sun, moon, planets, signs,houses & others) influences should be understood as acting in a causational manner taking in account upon the conception of a law of cause and effect according to which other things

being equal. like cause always produce like effect.

Clues to the influences of Uranus, Neptune and Pluto have been found in events occurring after each of these planets was discovered. Although the new planets are 'new' only in the sense of being recently discovered, astrologers believe that they have made themselves felt in the world only since their discovery.

The identification of Uranus in 1781 has been followed by revolution and violent upheavals in the world, notably the French revolution in 1789. The planet also cast its shadow before it by sparkling the American Revolution in 1776. Neptune has shown its spiritual and psychic influence in the rise of spiritualism, the growth and interest in psychic and occult manners and the development of psychology and psychoanalysis since it was discovered in 1846, pluto was identified in 1930. The depression, the second world war and the manufacter of the atomic bomb suggest that is influence has been appropriately hellish. An important events for mundane astrologers is a conjunction of saturn and jupiter which occurs every 20 years.

Thus it is clear that celestial phenomena coincide in time with terrestrial events. The direction does not cause the events they merely indicate the time at which the event is likely to come to fruition. The revolution or the war was caused by very many contributory factors. The astrological factors only helped to cause the events connected with the matter which occured while it was within arms. It is a universally accepted principle of practical astrology that directions do not exceed the promise of the Radix.

If we reject causational view and attribute the coincidence of astrological factors and mundane phenomena to a simple law of synchronism just like the 5 *samavaya* of jainism, co-ordinating unity among *svabhava, kaal, niyati, purusartha, karma.* All these play their due role for any event to occur according to jainism. If we accept the second alternative the fact of synchronism between celestial (planet) and mundane phenomena then question arises as to who or what orders and arranges both. There must be a prime cause.

When we see a thousand diverse causes leading up to the precise time a direction falls due and closely corresponding to the nature of that direction, we are apt to think that it is the outcome of all-coordinating unity of nature. For e.g. a man has sun trine Neptune in the 9th house,

he goes abroad because he has been specially selected by his company to attend personally to a problem that has gradually developed during many years.

In astrology, the direction do not always coincide with events. The direction seems to have acted at wrong time in wrong manner. The law of synchronism seems to be less effective in astrology. The reason lies in the infinite complexity of life, not only with respect to on individual, but in his endless relationship with others.

To expect perfection of astrology would mean the embellishment of man in a rigid mathematically exact machine. Paradoxically if astrologers claim precise results they must abandon free-will and if they accept free-will, they would have to admit that their forecasting is approximate and contingent.

It is clear that though the stellar influences act in a causational manner, yet it would be sheerest waste of time to calculate future influences if these astrological forces were incapable of alleviation by human action.

Till now we have seen in what way karma and astrological influences agree to the law of causation.

Now we will see the similarities in this peculiar characteristic of karmic and astrological forces.

(1) Both are superior to spatial limitation-

Karma:- Jainism explains that eight types of vargana exist in the universe which provide physical body, mind, speech, digestive power, pleasure and pain, Every space in the universe is filled with these varganas. Karman varganas are physical molecules of a particular constitution which gives them the tendency to be attracted by Jivas.

Astrology :- Sun, moon and other planets move within their orbit. They are millions of miles away from us yet the aspects of the planets and the influences of the zodiacal signs have been known to have a magnetic attraction and a pull on the earth and man.

(2) Penetrative:- Though no physical means has been found for screening their action , both karmic matter and astrological factors have directly or indirectly influenced our mind, feeling, emotions, instinctive and subconscious impulses, and circumstances. Karmic matter gets

bound with Jiva like milk and water and manifests as modes of karma such as *Jnana-varaniya, darshana-varaniya* etc. just as molecular arrangement in matter are seen in diverse forms. The most important of these is *mohaniya* karma this is a sort of veil of ignorance whose effect is two-fold. It may interfere with the faculty of perception (*Darshana mohaniya*) or with the faculty of will (*charitra mohaniya*) all other karmic *upadhis* may be ultimately traced to the operation of this fundamental karma. On account of suppression (*upasama*) or annihilation *ksayika* of *mohaniya* karma , Jiva is able to apprehend the nature of true reality and thus have faith in the ultimate *tattvas*.

Astrology:- From distant ages astrologers have insisted that planetary rays are accountable for many things which happen to the earth and its inhabitants. war and earthquake, prosperity and adversity. The seven planets are the forces that act on human being, the twelve sign show how they act while the house show where they act and in what department of life their action will be felt.

(3) Both are extra ordinary in their subtlety.

Karma:- A peculiar combination of paramanus constitutes karma *pudgala*. A change in *dravya* karma brings about a change in *bhava* karma i e. a corresponding change pure or impure in consciousness such as *Udaya, Upasama, Ksayopasama, ksaya and parinama.*

Astrology:- Planetary forces do not belong to the realm of nature which is the field of ordinary scientific research, but to the intra-natural order which we call as psycic or occult, the realm of those subtle, astral and etheric forces. Though astrological forces may be psychic our chief factor the sun, moon and other planets are physical existence and the signs and houses are determined mathematically and have geometrical reality and therefore it is possible to forecast character from the nativity with considerable accuracy, say mannerism, temperament, outlook, habits, health, etc.

(4) Capable of differentiation in respect of their nature.

Karma: Different modes of Karma like *Jnana Varaniya*, etc. have their own distinct nature for e.g. different form of existence, man, celestial.

animal etc. are caused by their respective *nama* Karma *prakrtis*.

Astrology: The planets have different influences in the different signs, but always maintain their basic character the sun is male, regal hot, dry and positive. Moon is female, cold, moist and negative. Mercury regarded as hermaphrodite. Saturn as eunuch or moon conjunction Jupiter may show big house or a rich and generous heart, or a large physical stature, or a big personality, under many shapes, the underlying principle remains the same.

(5). Capable of differentiation in respect of their power:

KARMA : Two important aspects of the Jaina doctrine of Karma *vipaka* are the concept of

a) *Sthiti,* duration or the time of ripening & fruitiion.
b) *Abadhakala* – the period of for which the Karmas remain dormant this being different for different classes of Karmas. Thus the *Jnana varniya* Karmas have a minimum time span of 48 minutes (*Muhurata*) and a maximum of 30 Kodakodi sagaropamas, the period of dormancy (*abadhakala*) is 32000 yrs.

ASTROLOGY: The Radix (nativity) always remains important because to certain limits represents the essential man-his character. Transits over radical position or direction to them are considered of great importance, the reason being that these radical position or direction to them are considered of great importance, the reason being that these radical points bear a close individual relationship to the native. Just as a man sees his shadow enlarged from particular angle, so is the effect of the transits, themselves of minor importance, recur according to definite time measure. In this way what is promised by the Radix is brought to fruition. For e.g. a man born with the sun in 0^0 Aries, this position bears relationship with man's character and if at the same position events reoccures, it will also affect the man.

Modern Astrology

One of the attractions of astrology for many people is that by showing them their star i.e. given virtues and failings, it helps them to make the best of their lives. Like all magical thinkers, astrologers put a high value on balance and equilibrium.

A person of great drive and enthusiasm may fail in life without favourable aspects from saturn which will give him realism and orderlines of mind.

A practical person needs favourable influences from Jupiter to broaden his interests and give him ways of expansion.

Planets do not doom you to failure or unhappiness and once you know your deficiencies you can try to correct them. "The Star impel, they do not compel" is a favourite astrological maxim and most modern astrologers do not believe that a man is inevitably destined to follow the track mapped out for him at birth. Astrologers today think of themselves not as mere fortunetellers but as counsellor who show us the way to happiness and success.

कर्म-सिद्धान्त एवं पर्यावरण विज्ञान

संदीपकुमार बी. वैद्य
लढ्ढा पेट्रोलपंप के पीछे,
मोरसी रोड़, केम्प, अमरावती, महाराष्ट्र–444 602
फोन – 0721–2664733,2568024

पर्यावरण सृष्टि पर स्थित चैतन्य (Living Things) और जड़ (Non Living Things) के अस्तित्व को सूचित करता है। चाहे पशु–पक्षी हो, नदी – समुद्र हो, वनसंपदा हो, हवा हो, मिट्टी–पाषाण हो, आकाश हो या ग्रह–ताराएँ हो। हमारे चहुँओर जो वातावरण है उसे "पर्यावरण" कहते हैं। "Matter can neither be created nor be destroyed. It only changes its form from one to another" विज्ञान का यह महत्वपूर्ण नियम "लॉ ऑफ कॉंझर्वेशन ऑफ एनर्जी/मेटर" कहलाता है। इस नियमानुसार सोचें तो विश्व का अनादि अनंतपना सिद्ध होता है। इसकी तुलना "उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य–युक्तं सत्" इस जैनदर्शन के एक सूत्र से की जा सकती है। यहाँ उत्पाद यानि उत्पन्न होना (To Form), व्यय (To vanish) याने नाश होना तथ ध्रौव्य (Constancy) याने शाश्वत रहना। द्रव्यों की पर्यायें उत्पन्न होकर नाश होती हैं, फिर भी द्रव्य अपने अस्तित्व रूप से शाश्वत रहता है। इस सिद्धांतानुसार "पर्यावरण" भी अनादि– अनंत ठहरता है। कर्म सिद्धांत विश्व को जिन छह द्रव्यों का समूह मानता है वे इस प्रकार हैं – जीव या Soul, पुद्गल या Matter, धर्मद्रव्य या Medium of motion, अधर्मद्रव्य या Medium of rest, आकाशद्रव्य या space और कालद्रव्य या Time। विज्ञान में भी इन छहों द्रव्यों की सिद्धता की है। ये सब पर्यावरण के ही घटक हैं। पुद्गल या Matter के विविध रूप जैसे शब्द, बंध (bondage), सौक्ष्म्य (Micróness), स्थौल्य (Largeness), भेद (To break into pieces), तम (Darkness), छाया (Images) आदि सब का जैनदर्शन में व्यवस्थित वर्णन वर्णित है। ग्रहों के प्रकाश से लेकर कृष्ण–विवर (Black-hole) तक को चौंका देनेवाला समूचा विवेचन सचमुच विज्ञान को मानो प्रति–आव्हान कर रहा हो। कर्म विज्ञान इस अनादि सृष्टि को मध्यलोक, उर्ध्वलोक एवं अधोलोक से सहित एक विशिष्ट आकारवाला मानता है जिसे "तीन–लोक" नाम प्राप्त है। इसके चहुँओ

निरंतर घूमते हुए वातवलय वर्णित हैं, जिसे विज्ञान वातावरण कहता है। इन तीन वातवलयों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं– (1) घनोदधि (Moist & Dense) (2) घन (Dense) और तनु (Rare)। इनके वर्ण क्रम से गोमूत्र समान, मूँगसमान और मिश्रवर्ण ऐसे हैं। यह पर्यावरण का ही हिस्सा है। मध्यलोक, जहाँ हम आप सब रहते हैं वह अनगिनत् द्वीपों और समुद्रों से एक दूसरे को घेरकर गोलरूप से अवस्थित हैं। मध्यलोक के उपरिम भाग में सूर्यचंद्रादि ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक और तारका इनके रहने के स्थान हैं, ये प्रकाशमान होने से ज्योतिष्क–विमान कहे जाते हैं तथा ये सब नियमित रूप से मध्यलोक का केंद्रबिंद स्वरूप सुमेरू–पर्वत को चक्कर लगाते रहते हैं। इनके उपर स्वर्गलोक/उर्ध्वलोक विद्यमान है जहाँ देवगति के देव निवास करते हैं और मध्यलोक के नीचे सात और भूमियाँ हैं जो नरक कहलाती हैं। शास्त्रों में वर्णित इन नरकों की भूमियों का वर्ण, स्पर्श, प्रकाश–व्यवस्था इनकी तुलना केवल तर्क से Geology के अनुरूप की जाये तो विज्ञान की सीमाएँ कितनी मर्यादित हैं यह स्पष्ट हो जायेगा। जिस प्रत्यक्षदर्शी ने इसका हुबहू वर्णन किया है उसके ज्ञान का कौन पार पा सकता है? दर्शनकार इन्हें ही "केवलज्ञानी" कहते हैं।

समस्त दर्शन जगत् ऋषभदेव को आदिब्रम्हा के रूप में स्वीकार करता है, इनके नाम चाहे Bull-God, Tesheb, Appollo आदि भिन्न क्यों न हों। भगवान ऋषभदेव के कालमें भोगभूमि का अंत तथा कर्मयुग की शुरूआत होने को थी। भोगभूमि में तो मानव को मात्र चिंतन करने से ही इच्छित सर्व संपन्नता प्राप्त हो जाती थी। लेकिन कालपरिवर्तन भी पर्यावरण का अनिवार्य अंग है। अतः सृष्टि के इस बदलते मोड पर उन्होंने संभ्रमित समस्त प्रजाजनों को धीर बँधाकर अपनी अलौकिक बुद्धि (अवधिज्ञान) से छह कर्म (उपजीविका हेतू) करने का उपदेश दिया था। लाखों–करोड़ो वर्षों पहले बताये गये जो छह कर्म आज भी धरती को "सुजलाम्–सुफलाम्" बनाये रख रहे हैं। वे हैं– 1) असि या शस्त्रकला 2) मसि या अक्षरकला 3) कृषि 4) शिल्प या कारीगरी 5) सेवा या नौकरी 6) वाणिज्य या व्यापार करना। कर्मयुग का "कृषिकर्म" ही "पर्यावरण–संवर्धन" की प्राचीन संकल्पना ठहरती है। खेती करना, वृक्षों का जतन करना, हरियाली बढाना आदि निर्दोष रीति से किये कार्य ही कृषि कर्म कहलाता है।

कर्म–सिद्धान्त में वर्णित "मार्गणा" या "जीवसमास" नामक विषयों द्वारा जीव की अनेक प्रकार से अन्वेषणा की गयी है। इसके तहत जो एक इंद्रियवाले या Touch – sense वाले जीव, जिन्हें "स्थावर" कहा जाता है, उनके भेद निम्न प्रकार से पर्यावरण समझने हेतु जानना उचित होगा–

1) पृथ्वीकायिक :– वे जीव जिनका शरीर ही पृथ्वी है। जैसे धातु, खनिज, पृथ्वी गर्भ में स्थित मिट्टी, पाषाण आदि। भूमि में स्थित हो तब तक ही ये पृथ्वीकायिक कहलाते हैं, बाहर निकाल लेने पर ये ही पुद्गल या Matter के रूप में बदल जाते हैं।

2) जलकायिक :– वे जीव जिनका शरीर ही जल। जैसे समुद्रजल, नदीजल, बर्फ, ओला, आदि में स्थित एकेंद्रिय जीव।

3) अग्निकायिक :– वे जीव जिनका शरीर ही अग्नि हो। जैसे विविध प्रकार की अग्नि में स्थित एकेंद्रिय जीव।

4) वायुकायिक :– वे जीव जिनका शरीर ही वायु हो। जैसे ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, क्लोरीन, व अन्य वायुओं में स्थित एकेन्द्रिय जीव।

5) वनस्पतिकायिक :– नाना तरह की वनस्पतियाँ, पेड, पौधें आदि।

इन जीवों में चेतनत्व की सिद्धि "कर्म–सिद्धांत" में है ही। "ज्ञान–दर्शन" वाला चेतन माना गया है। इन जीवों का बढना, सिकुड़ना, फैलना आदि क्रियाएँ भोजन प्राप्ति हेतु या अन्य पूर्व संस्कारवश देखी जाती हैं। कर्म–विज्ञान जीव में पूर्व संस्कारवश चार अभिलाषाएं बताता है। जिसे "संज्ञा" नाम से जाना जाता है, 1)आहार 2) भय 3)मैथुन 4) लोभ या परिग्रह। जन्मजात तो छोडो गर्भस्थ बालक में भी इन सुप्त संस्कारों को प्रतिक्रिया–रूप में आधुनिक विज्ञान मॉनिटर पर देख सकता है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. जगदीशचन्द्र बसु ने अनेक पेड़–पौधों पर किए विविध आश्चर्यकारी प्रयोगों से विश्व को प्रमाण देकर बताया था कि वनस्पति सुख–दुःख की संवेदना से सहित है अतः जीव है। 1) पानी और जमीन से आवश्यक तत्वों को ग्रहण करना, 2) भय से पत्तों को सिकोड लेना 3) वृक्षों का एक दूसरे से सटकर बढना 4) सोना–चाँदी आदि गड़े हुए संपत्ति की ओर वृक्ष के मूलों का बढ़ाकर उसे पकड़ना ये क्रमशः आहार, भय, मैथुन और लोभ संस्कार के दृश्य उदाहरण हम जान सकते हैं। कर्मों का संस्कार जीव पर न हो यह तीन काल में भी संभव नहीं। हाँ, कर्मो का उदय रागद्वेष रूप से जिस तरह मनुष्य और पशुओं में प्रकट रूप से पाया जाता है, उस तरह स्थावर जीवों में न दिखते हुये भी प्रवृत्ति रूप से और शरीर रचना से जाना जा सकता है। लेकिन इसके लिए बुद्धि के संकीर्ण द्वारों, को खोलना होगा। पृथ्वी को खोदना, जल को बहाना, अग्नि जलाना, पवन चलाना या उसे रोकना, वनस्पतियों को तोड़ना ये कार्य जब तक सीमित आवश्यकतायें हैं तभी तक अनिवार्यता के रूपमें स्वीकार किये गये हैं। इनका निष्प्रयोजन या लोभवश अतिव्यय करना "प्रमादचर्या" नामक अनर्थदण्ड या Useless-act मानकर कर्मसिध्दांत ने

पापकारी माना है। पर्यावरण की रक्षा हेतु इनको टालना आज विश्व के समक्ष एक आव्हान रूप से खड़ा यक्ष प्रश्न है। आज के मानव की भूगर्भ में से अमर्याद लोहा, तांबा, सोना, चाँदी आदि सर्व धातुएँ निकालना, पेट्रोलियम उत्पादों के बढ़ती हुई मांगों की पूर्ति हेतु उर्जा स्रोतों को समाप्त कर अपनी भौतिक सुविधाओं की बढ़ौती करना, भूतल के जल स्रोतों (Underground Water-table) को कूप (Borewell) के माध्यम से निकालकर इस धरती के उदर को खाली करना, आदि क्रियायें "कर्मसिद्धांत" को कतई मान्य नहीं। इसी तरह जंगलों को काटकर वीरान बना देना, है मानव! स्वयं अपने आपको मिटा देने की मानो तैयारी ही है। पर्यावरण का ह्रास अपने सत्कृत्यों का ह्रास होने से पापक्रिया है और न्यूटन के तश्तीय नियम अनुसार उसकी प्रतिक्रिया होनी ही चाहिए।

कर्म–सिद्धांत बुरे काम को पाप कहता है, जिसके 1) हिंसा करना 2) असत्य बोलना 3) चोरी करना 4) कुशील या कुचरित्र रखना 5) लालचप्रवृति ये पांच भेद बताये गये हैं। इन 5 पापों को स्थूलतः त्याग करने का गृहस्थों को आदेश है, जिन्हे "अणुव्रत" कहते हैं और इनको पूर्णरूपसे छोड़ने का मुनिओं को आदेश है, जिन्हें "महाव्रत" कहते हैं। इस आचारसंहितानुसार अणुव्रतधारी अपने दैनंदिनी आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र न्यायमार्ग से तो कर सकता है लेकिन व्यर्थ हानि नहीं कर सकता। अपने शरीर, की शुद्धि हेतू एक कमंडलुभर पानी 24 घंटे तक चलाने वाले और जीवनभर एक हरी पत्ती को भी नहीं तोड़नेवाले नग्न साधू से बढ़कर उत्कृष्ट पर्यावरणवादी दुनिया में और कौन हो सकता है? अपने हृदय में समूचे जीवराशीप्रति जो दयाभाव है उसी के फलस्वरूप तीर्थकर एवम् विशेष आत्मशक्तिसंपन्न साधुओं के शरीर से जो "विद्युतचुंबकीय" तरंगे निकलती हैं वे वातावरण पर ऐसा प्रभाव डालती हैं कि पेड़ और अनाज भी बेमौसम फूलने फलने लगते हैं। उनके वास्तव्य स्थान से कई दूर तक के परिसर में रहने वाले जंगली ओर हिंस्र–पशु भी पारस्पररिक वैर को भूल एकसाथ दिखाई देते हैं। "परस्परोपग्रहो जीवनाम्" सूत्र बताता है कि जीवों का एक दूसरे पर उपकार हुआ करता है। "जीओ और जीने दो" यह सूत्र तो पर्यावरण संवर्धन का सीधा सीधा हल है। वनों की कटाई करना एक भयंकर अपराध है, कर्मभाषा में पाप है तो पर्यावरणवादी उसे Soil-Erosion या मिट्टी–क्षरण का कारण मानते हैं जिससे बाढ़ जैसी आपत्तियाँ उपस्थित होती है। साथ ही साथ भूमिगत जल का स्तर नीचे गिर जाना, पैड़ों का सूख जाना और पशु–पक्षिओं, की कई जातियों (Species) का इस वसुंधरा से अस्तित्व नित्य खो बैठना, औसत पर्जन्यमान में कमी आना, जमीन ढह जाना यह सब क्या मानवकृत पाप का फल नहीं हैं? "कर्म सिद्धांत"

एकेन्द्रिय से पंचेद्रिय तक के जीवों के शरीर भेद अनुसार एक करोड़ से भी अधिक "कुल" मानता है। इसकी पृथक्–पृथक् संख्या भी निर्दिष्ट है। यतः पृथ्वीकायिक 22 लाख करोड, जलकायिक 7 लाख करोड, अग्निकायिक 3 लाख करोड, वायुकायिक 7 लाख करोड, द्विंद्रिय 7 लाख करोड, त्रींद्रीय 8 लाख करोड़, चतुरिंद्रीय 9 लाख करोड़, वनस्पतिकाय 28 लाख करोड़, पंचेद्रिय तिर्यंचों (पशुओं) में जलचर 12 1/2 लाख करोड़, पक्षियों के 12 लाख करोड़, पशुओं के 10 लाख करोड़ और छाती के सहारे चलने वाले (रेंगने वाले) के 9 लाख करोड़ कुल हैं। देवों, नारकी और मनुष्यों के क्रम से 26 लाख करोड़, 25 लाख करोड़ तथा 12 लाख करोड़ कुल हैं। इन सबका जोड़ 1.975 ग 10^{15} इतना निकल आता है। अपने पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप इन कुलो में जन्म लेकर अपनी अपनी पर्याय को भोगना पड़ता है। पर्यावरण के इन जीवजातियों को जाने बिना दया तथा करूणा का वास्तविक पालन नहीं किया जा सकता हैं। इनमें से अनेक जातियों को मानव ने संतुलन चक्र को बाधित कर काल का ग्रास बना दिया है और रोजाना कई जातियाँ इतिहासबद्ध हो रही हैं। यह महाघात हमें क्या भविष्य प्रदान करेगा अल्पबुद्धिधारी मानव सोचता नहीं हैं। धर्म तो "बंव्हारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः" यह स्पष्ट फल प्रतिपादित करता है। हिंसा और लालच से बर्बरित जीवन "कार्य–कारण" भावनानुसार भी निम्न श्रेणी को जानना ही चाहिए। पशुपक्षियों का प्रजनन कृत्रिम Farmhouse द्वारा बढाकर करोडों हेक्टेयर भूमि उनके चराई के लिए धान्य उत्पादन से वंचित रखी जा रही है। अन्न से हृष्टपुष्ट कर फिर उन्ही जीवों को कत्तलखाने में भेजकर उनके प्राण असमय में ही समाप्त किये जा रहे हैं। फिर उस मांस को मानवी आहार हेतु पैक कर दुनियाभर में भेजा जा रहा है। कर्मशास्त्र इस तरह की हिंसा को "संकल्पी–हिंसा" मानकर इस पाप का फल अत्यंत कठोर बताता है। मानवी व यांत्रिक कत्तलखानों में जीवों को काटना, सामुद्रिक जीवों की बडे पैमाने पर हत्या, देवीदेवताओं के नाम पर अज्ञानवश लाखों पशुओं की बली चढाना, यह जघन्य कार्य कर के क्या मनुष्य स्वस्थ और शांत रह सकेगा? कदापि नहीं। इन पशुओं के मरणसमय वेदना, डर व क्रोध इन सबकी वजह से इनके शरीर से आत्मा के कुछ प्रदेश बाहर निकलकर अल्प समय में वातावरण में फैल जाते हैं। जैन दर्शन में इसे "वेदना समुद्घात" और कषाय समुद्घात" नाम से जाना गया है। Getting a part of soul out of body - यह क्रिया उस "रूम हीटर" जैसी होती है जिसकी उष्मा अपने कॉईल में रहती है किंतु बाहर भी फैलती है। आजकल बिसॉलॉजी या (BIS Theory) नाम से इस विश्व में उभरी हुई विज्ञानशाखा "समन्वित व्यवस्थाओं के विभंग" (Breakdown of Integrated Systems) के कारणों

का अभ्यास कर रही है। इस सिद्धांतानुसार मारे जाने वाले पशुओं के शरीर से एक प्रकार की "पीड़ा–तरंगे" निकलती हैं जिसे Einstein pain-waves या E.P. Waves नाम से जाना जाता है। यह वातावरण में फैली उर्जा अधिक बढने पर भयानक आपत्तियां जैसे भूकंप/बवंडर आदि के लिए जवाबदेह हैं। धर्म और विज्ञान में कितनी समानता से इसका वर्णन किया गया है। व्यवस्थाओं के विभंग होने पर तूफान, भूकंप, जहरीली वर्षा, आदि भविष्यकाल में जाकर अतिसंहारक रूप (जिसे महाप्रलय ऐसा शास्त्रोक्त शब्द है) धारण करें इसमें आश्चर्य कैसा? For every action, there is an equal and opposite reaction.

"पर्यावरण और कर्म सिद्धांत" यह विषय बिना–कर्मक्रिया को समझे अनाकलनीय ही रहेगा। अतः इसे भी समझना होगा। मन,वचन तथा शरीर की अशुद्ध या अस्वाभाविक क्रिया करने से आत्मा में एक प्रकार से कंपन्न होता है। इससे हमारे निकट और (अतिसूक्ष्म रूप से) स्थित पुद्गल या Matter खींचकर आत्मा के साथ बंध (Bondage) को प्राप्त हो जाती है। इस सूक्ष्म पुद्गल को शास्त्रीय भाषा में "कार्माण–वर्गणा" कहा जाता है। विशिष्ट संस्कार के रूप में हुई यह क्रिया ही कर्मबंध कहलाती है। इसकी तुलना टेपरेकॉर्डर में कोरी केसेट पर रेकॉर्ड का स्वीच दबाने से होने वाली क्रिया से की जा सकती है। महत्वपूर्ण यह है कि यह कर्मबंध पांच कारणों, से होना बताया गया है 1) मिथ्यात्व (Wrong faith) 2) अविरति (Non control of own acts) 3) प्रमाद (Laziness / self ignorance) 4) कषाय (Self-paining acts) और योग (Act of think, talk & body)। पर्यावरण का भौतिक कर्म रूप से कथन जैन कर्मसिद्धांत की ही विश्व को देन है। उपनिर्दिष्ट पाँचों कार्य कर्मबंधक होने से पापकार्य कहे गये हैं। विश्वकल्याण की भावना रखने वाला मानवतावादी इनको टालकर ही उपर उठ सकता है। इन 5 कारणों के बिल्कुल विपरीत सम्यग्दर्शन, संयम, अप्रमाद, अकषाय और अयोग इनके द्वारा मानव कर्मों से या कुसंस्कारों से पूर्णतः छूटकर "मुक्त–जीव (Liberated soul) हो सकता है।

प्रकृति पर पत्थर उछालकर कोई भी स्वयं को सुरक्षित नहीं रख सकता। अति विध्वंसक व्यक्ति को कर्म–सिद्धांत "कृष्णलेश्या वाला" जीव कहता है। उससे कम विध्वंसक नील एवं उससे कम कापोत लेश्यावाला कहा जाता है। इन व्यक्तियों में क्रोधावेग, झगडालूपना, ईर्ष्या, लोभ, हिंसा आदि दुर्गुण नियमतः पाये जाते हैं। अतः वे स्वयं ही अपने लिए भविष्य में ऐसी जगह बना लेते हैं जो नरक नाम से जानी जाती है। क्रोध–मान–माया–लोभ इन कषायों से रंगी हुयी हमारी मानसिक, वाचिक या कायिक प्रवृत्ति "लेश्या" कहलाती है। इसके भेद वर्णसंकेत (Color-code) से इस

तरह जाने जाते हैं–

कृष्ण – काला रंग पीत – पीला रंग
नील – नीला रंग पद्म – गुलाबी रंग
कापोत – कबूतरी रंग शुक्ल – श्वेत रंग

एक प्रसिद्ध दृष्टांत द्वारा इनको जानना आसान होगा। कोई छह व्यक्ति आम से लदे पेड़ के नीचे आ जाते हैं। पेड़ को देखकर उनकी विचारधाराएँ कुछ इस प्रकार चलती हैं।

1) पहला – मैं इसे मूल से काट लूँ तो अच्छा होगा।
2) दूसरा – मैं इसे मुख्य स्कंध से काँटू तो अच्छा होगा।
3) तीसरा –जहां से टहनियाँ फूटी हैं वहीं से मैं इसे काटूँ तो अच्छा होगा।
4) चौथा – मैं मात्र छोटी टहनियाँ काटूँ तो अच्छा होगा।
5) पाँचवा –मैं मात्र आम लगी डंडिया ही काटूँ तो अच्छा होगा।
6) छटा – मैं पककर नीचे गिरे आम को लूँ तो अच्छा होगा।

ये छह व्यक्ति ही अनुक्रम से कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, व शुक्ल लेश्यावाले कहे जाते हैं। इनमें प्रथम 3 स्वभाववाले व्यक्ति दूसरों को पीड़ा पहुँचाकर कार्यसिद्धि करने वाले होने से पर्यावरण की अतिहानी करते हैं। तो अंतिम 3 व्यक्ति विधायक विचारवाले होते हैं, जो हरी–भरी वनस्पत्तियों के पत्ते तक व्यर्थ नहीं तोड़ते। कंदमूल या साधारण वनस्पत्तियाँ जिनमें अनंत निगोदराशि (Ultra-micro lives) उत्पन्न होती रहती है और ऐसे वस्तुओं को धर्मवान व्यक्ति भक्षण नहीं करता। विज्ञान ने खोज निकाला है कि, कंदवर्ग की वनस्पतियाँ अपना आहार कंदो, में Store करती हैं। मोटे पत्तीवाले वृक्ष जो पर्यावरण के अनुकूल हैं वे "साधारण" जाति के होने से श्रावक उसे भक्षण हेतु नहीं तोड़ेगा। हरी सब्जियाँ पर्व अवसरों पर ग्रहण न करना आदि सब अहिंसा के पूरक कार्य पर्यावरण के पोषक ही हैं। निगोदिया जीव सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा महामत्स्य जीव महाकाय होता हैं। जैन शास्त्रों में पर्यावरण की इस विविधता का विपुल वर्णन मिलता है जिससे "डायनासोर" जैसी नष्ट हुई प्रजातिओं का अस्तित्व मानना बिलकुल सही ठहरता है। शास्त्रों में वर्णित प्रत्येक और साधारण वनस्पतियों के सूक्ष्म अध्ययन से तथा सम्मूर्च्छन जीव (their bodies form by accumulation of surrounding matter) के पृथक्करण से विचारें तो "क्लोनिंग–तंत्रज्ञान" आश्चर्यकारी न लगें। परंतु इसका विकृतिकरण भविष्य में भयानक असंतुलन निर्माण करने वाला एवं अनैसर्गिक, असत्वशील ठहेरगा। वनस्पतियों की पेशियों में पशुपेशियां कल्चर करना भयंकर अमानवीय एवं विकृत कर्म हैं। इस

"अनर्थदण्ड" क्रिया को विश्व ने नहीं रोका तो खानपान एवं आरोग्य का ह्रास अटल है। ऐसे अनुसंधानों को कर्म–सिद्धांत मना करता है।

अपनी आवश्यकताओं को सीमित करना "परिग्रह–परिमाण" नाम का व्रत है। इसमें सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण हैं। लकड़ी, पत्थर, गैस, जल, इनकी प्रतिव्यक्ति रूप से मर्यादा (Rationing) किये बिना केवल बाहर से पर्यावरण की बातें करना कोरा धर्म हैं। शुद्ध वस्तु में अशुद्ध वस्तु मिलाना या मूल्यवान वस्तु में हल्की वस्तु मिलाना जहाँ चौर्यकर्म के अंतर्गत दोष है वहाँ ही पर्यावरण के अंतर्गत प्रदूषण है। वायुप्रदूषण, ध्वनिप्रदूषण इनमें आज विश्व इतना खो गया है कि उसे प्राणवायु के लिए हॉस्पीटल में जाने की जरूरत पड़ रही है। "ग्रीन–हाऊस इफैक्ट" विश्व का तापमान बढ़ा रहा है। इससे सूर्य की अतिनील किरणें (U.V. Rays) Ozone Layers को चीरकर जीव जंतुओं सहित पर्यावरण की हानि कर रही हैं। पॉलिथिन का अमर्याद इस्तेमाल आज मानव को संकट उत्पन्न कर रहा है। हिंसक अनुसंधानों का नतीजा और कैसे होगा? Biodegradable वस्तुएं और Recyclable वस्तुएं ही पर्यावरण की साधक हैं। इसके लिए प्राकृतिक वस्तुओं का जतन करना होगा और उनकी वृद्धि करनी होगी। कर्म–सिद्धांत को मानने वाला चाहे व्यक्ति हो, चाहे समाज हो, चाहे राष्ट्र हो, खुशहाली के झोंके झूलेगा। बढ़ता हुआ मांसाहार पर्यावरण को इतना घातक साबित हो रहा है कि इसके आधुनिक तंत्रों से तो विश्व की बड़ी उर्जा इसमें लग रही है। साथ में लाखो गेलन जल का व्यय तथा वायु, जमीन व जल प्रदूषण मांसाहार की ही देन हैं। कच्चे व पके मांस में जो अगणित जीवोत्पति होती है वह तो अलग ही हैं। मांसाहार करने से जीव–हिंसा और अपनी कोमल भावनाओं का लोप होता है अतः यह धर्म ने अपराध माना है। आधुनिक वैद्यक शास्त्र ने भी माना है कि Neuro-transmitters मानवी मस्तिष्क में पाये जाने वाला यह घटक हमारी भावना कैसी बने यह तय करता है और वह आहारानुरूप बदलता है। धर्मशास्त्र में "जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन" इस कहावत की इससे पुष्टि होती हैं। पानी छानकर सूक्ष्म जीवों की रक्षा करने वाली क्रिया भी विस्तृत–बुद्धि उदाहरण हैं।

नदियों का नैसर्गिक प्रवाह मोड़ना या उनका पात्र कृत्रिमतः बदलना, बड़े–बड़े पहाड़/चट्टानों को उखाड़ना, वायुप्रवाह में अवरोध करना यह क्रमशः जलकायिक, पृथ्वी कायिक, वायुकायिक जीवों का बहुघात हैं जो पर्यावरण का विध्वंसकारी हैं। पर्यावरण को गिराकर स्वयं प्रगत हो उठने का मानवीय प्रलाप थोथा है। कुदरती संपदा के नाश को आमंत्रित न कर, आओ, हम सब स्वर्गीय पर्यावरण में रहें और पाप कर्मों से भी बचें अन्यथा गुलशन का रेगिस्तान बननें पर कोई नहीं

बचेगा। अपने आराध्य की जल, चंदन, तंदुल, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल आदि अष्टद्रव्यों से पूजन करने वाली हमारी संस्कृति पर्यावरण जतन का ही संदेश देती हैं। "जितना बचाओगें उससे कई गुना ज्यादा पाओंगें" यह सीख मनुष्य को निसर्ग ने दी हैं। अच्छे, बुरे कार्यो का फल क्यों और कैसे मिलेगा इस रहस्य को बताने वाला "कर्म–सिद्धांत" ही पर्यावरण का तारक ठहरता है।

जैन कर्म-सिद्धान्त और वंश-परम्परा विज्ञान

सोहनराज तातेड़
शोधार्थी
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं

जैन कर्म–सिद्धान्त के अनुसार "उपयोग लक्षणो जीवः"। जीव (आत्मा–चेतना) का लक्षण उपयोग है। ज्ञान–दर्शन को उपयोग कहते हैं। ज्ञान–दर्शन को आबद्ध करने वाला मुख्य मोहनीय कर्म है। मोह के कारण राग–द्वेष। राग–द्वेष के कारण कर्म। कर्म के कारण जन्म–मरण। जन्म–मरण के कारण दुःख की उत्पत्ति। इस प्रकार यह आवृत्ति पुनरावृत्ति होती रहती है। तत्वार्थसूत्र में कहा गया "बध्यते परतन्त्रीक्रियते आत्माऽनेनेति बन्धनम्"। जिसके द्वारा आत्मा परतन्त्र कर दिया जाता है वह बंधन (कर्म) है। जैन कर्म–सिद्धान्त के अनुसार कर्मबद्ध आत्मा ही नये कर्मों का संचय करती है, मुक्त आत्मा कर्म संचय नहीं कर सकती क्योंकि उनके कर्म बीज राग–द्वेष पूर्ण नष्ट हो चुके होते हैं। जैन कर्म–सिद्धान्त के अनुसार आत्मा कर्म का उपादान है। आत्मा कर्म का कर्ता तथा भोक्ता है। उपादान तभी व्यक्त होता है जब उसे निमित्त मिले। कर्मों को भोगने के लिए निमित बनते हैं–योग (मन–वचन–काया), वातावरण तथा परिस्थिति। बिना निमित्त के कर्म आत्म प्रदेशों में ही भोग लिए जाते हैं। कषाय (राग–द्वेष) योगों की चंचलता बढ़ाते हैं। योग चंचल होने पर कषाय को उत्तेजित करते हैं तथा कर्म योग्य पुद्गलों का बंध होता हैं। इस प्रकार पूरा एक चक्र है।

शरीर माध्यम बनता है चेतना की अभिव्यक्ति का एवं कृत कर्मों को भोगने का। स्थूल शरीर का घटक है "जीन"। सूक्ष्म शरीर का घटक है कर्म। जैसा "जीन" होता है, गुण सूत्र होता है, व्यक्ति वैसा ही बन जाता हैं। यह जीन सभी संस्कार सूत्रों तथा सारे विभेदों का मूल कारण है। वंश–परम्परा विज्ञान (Genetic Science) की भाषा में कहा जाता है कि एक–एक जीन पर साठ–साठ लाख आदेश लिखे हुए होते हैं। तो कर्मशास्त्र की भाषा में कहा जा सकता है कि कर्मस्कन्ध में अनन्त आदेश लिखे हुए होते हैं, अभी तक वंश–परम्परा विज्ञान (Genetic Science) "जीन" तक ही पहुंच पाया है और यह "जीन" स्थूल शरीर का ही घटक है किन्तु कर्म सूक्ष्म शरीर

का घटक है। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस शरीर है, विद्युत् शरीर है। वह सूक्ष्म शरीर है। कर्म शरीर सूक्ष्मतम है। इसके एक–एक स्कन्ध पर अनन्त–अनन्त लिपियाँ लिखी हुई हैं। हमारे पुरूषार्थ का, बुराइयों का, न्यूनताओं का और विशेषताओं का सारा लेखा जोखा और सारी प्रतिक्रियाएं कर्म शरीर में अंकित रहती हैं। वहां से जैसे स्पंदन आते हैं, आदमी वैसा ही व्यवहार करने लग जाता है।

प्राण से तात्पर्य जीवन शक्ति है। जिनके संयोग से यह जीव जीवन अवस्था को प्राप्त होता और वियोग से मरण अवस्था को प्राप्त उसको प्राण कहते हैं। पांचों ही इन्द्रियों की जो ज्ञान करने की शक्ति है उसे कहते है–पांच इन्द्रिय प्राण। मनन करने, बोलने और शरीरिक क्रिया करने की शक्ति को कहते है–मनोबल, वचनबल और कायबल। बल और प्राण एक ही हैं। पुद्गलों को श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करने और छोड़ने की शक्ति श्वासोच्छ्वास प्राण। अमुक भव में अमुक काल तक जीवित रहने की शक्ति को आयुष्य प्राण कहते हैं।

प्राण का संबंध पर्याप्ति के साथ है। प्राण जीव की शक्ति है और पर्याप्ति जीव द्वारा ग्रहण किए हुए पुद्गलों की शक्ति है।

पर्याप्ति कारण है और प्राण कार्य है। जीव की मन, वचन और काया से सम्बन्ध रखने वाली कोई भी ऐसी प्रवृति नहीं, जो पुद्गल द्रव्य की सहायता के बिना होती है। पांच इन्द्रिय प्राणों का कारण है– इन्द्रिय पर्याप्ति। मनोबल, वचनबल और कायबल का क्रमशः कारण है मनः पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और शरीर पर्याप्ति। श्वासोच्छ्वास प्राण का कारण है– श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति। आयुष्यप्राण का कारण है आहार पर्याप्ति। क्योंकि आहार पर्याप्ति के आधार पर ही आयुष्यप्राण टिक सकता है। जैन कर्म–सिद्धान्त के अनुसार इन दस प्राणों में मुख्य प्राण है– आयुष्यप्राण। शरीर की समस्त क्रियाएं और समस्त अंगों का कार्य संचालन तभी तक संभव है जब तक आयुष्यप्राण क्रियाशील है। इसके समाप्त होते ही समस्त क्रियाएं सम्पूर्ण रूप से बन्द हो जाती है जिसे हम मृत्यु की संज्ञा देते हैं।

जब आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करती है, तब नये जन्म के प्रारम्भ में वह जैन कर्म सिद्धांत के अनुसार पर्याप्ति नाम–कर्म की सहायता से भावी जीवन यात्रा के निर्वाह के लिए एक साथ आवश्यक पौद्गलिक सामग्री का निर्माण करती है। इसे या इससे उत्पन्न होने वाली पौद्गलिक शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं। पर्याप्तियों का क्रम छः प्रकार है– आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनः पर्याप्ति। कुल छः पर्याप्तियाँ हैं। छहों ही पर्याप्तियों का आरम्भ एक काल में होता है, परन्तु उनकी पूर्णता क्रमशः होती है, इसलिए इस क्रम का नियम

रखा गया है। आहार पर्याप्ति को पूर्ण होने में एक समय और शरीर पर्याप्ति आदि पांचों में से प्रत्येक को अन्तर्मूहूर्त लगता है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मनः पर्याप्तियों के द्वारा जीव पर्याप्ति के माध्यम से आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा एवं मन के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करते हैं। उन्हें तदनुरूप परिणत करते हैं और असार पुद्गलों को छोड़ देते हैं।

वंश–परम्परा विज्ञान (Genetic Science) के अन्तर्गत "जीन्स" को जैन कर्म–सिद्धान्त के अन्तर्गत शरीर पर्याप्ति के रूप में माना जा सकता है। पर्याप्ति का अर्थ जीवनोपयोगी पुद्गलों की शक्ति के निर्माण की पूर्णता। सबसे कम विकसित प्राणी में कम से कम स्पर्श इन्द्रियप्राण, कायबल, श्वासोच्छ्वासप्राण, आयुष्यप्राण कुल चार प्राण तथा आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास कुल चार पर्याप्ति अवश्य होती है। इस प्रकार जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार प्राणों तथा पर्याप्तियों के योग से प्राणी का जीवन क्रम चलता है।

व्यक्ति के व्यवहार, आचार, विचार और प्रत्येक क्रिया कलाप का अंकन व्यक्ति के भीतर निरंतर होता रहता है। ऐसा आज विज्ञान की अनेक शाखाऐं भी मानने लगी हैं। आज वही अंकन कालांतर से उस व्यक्ति को प्रभावित करता है। भारतीय दर्शनों ने इस अंकन प्रणाली को कर्म–सिद्धान्त के रूप में विस्तृत विवेचना की है। आधुनिक विज्ञान उस अंकन की विभिन्न पद्धतियों और संस्थानों की चर्चा को आधार बनाती है। हमारा मस्तिष्क भी हमारे क्रिया–कलापों को रिकार्ड करता है। हमारी प्रतिरोधात्मक कोशिकाऐं भी उनका अंकन करती और अंततः उन सभी अंकनों का आधार बनता है संस्कार सूत्र "जीन्स"। इन दोनों के स्वतंत्र अध्ययन से जहां दोनों को समझने में सुविधा होगी वही आधुनिक परिप्रेक्ष में समस्याओं को सुलझाने में मार्गदर्शन मिलेगा।

कर्म सिद्धान्त अति सूक्ष्म है। बुद्धि से परे का सिद्धान्त है। वंश–परम्परा विज्ञान ने कर्म सिद्धान्त को समझने में सुविधा प्रदान की है। "जीन" व्यक्ति के आनुवांशिक गुणों के संवाहक है। प्रत्येक विशिष्ट गुण के लिए विशिष्ट प्रकार का जीन होता है। ये आनुवांशिकता के नियम कर्मवाद के संवादी नियम हैं। यह स्थूल शरीर सूक्ष्म कोशिकाओं (Biological Cells) से निर्मित हैं। मानव शरीर में लगभग साठ–सत्तर खरब कोशिकाएँ हैं। इन कोशिकाओं में गुणसूत्र होते हैं, जिन्हें क्रोमोसोम (Chromosomes) कहते हैं। प्रत्येक गुणसूत्र दस हजार जीन से बनता है। जीन सारे संस्कार सूत्र हैं। मानव शरीर की प्रत्येक कोशिका में छीयालिस क्रोमोसोम होते हैं। इन्हें वंश सूत्र की संज्ञा भी दी गई है। जीव विज्ञान के अनुसार प्रत्येक कोशिका

या बीजकोष (Germ Plasm) में 23 पिता के तथा 23 माता के वंश सूत्रों (Chromosomes) का समागम होता है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि इनके संयोग से 16,777,216 प्रकार की विभिन्न संभावनाऐं अपेक्षित हो सकती है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो वातावरण, परिस्थिति, पर्यावरण, भौगोलिकता, आनुवांशिकता, जीन और शरीर की ग्रन्थियों के विभिन्न स्रावों द्वारा रासायनिक परिवर्तन ये सभी कर्म सिद्धान्त के संवादी हैं।

जीन हमारे स्थूल शरीर का अवयव है और कर्म हमारे सूक्ष्मतम शरीर का अवयव है। दोनों शरीर से जुड़े हुए है, एक स्थूल शरीर से और दूसरा सूक्ष्मतम शरीर से। यह सूक्ष्मतम शरीर कर्म शरीर है। मृत्यु का संबंध केवल स्थूल शरीर से है। सूक्ष्म शरीर मरणोपरान्त भी विद्यमान रहता है। जैन दर्शन में जिसे सूक्ष्म शरीर (तैजस, कार्मण) कहा गया है। सांख्य दर्शन में उसे लिंग शरीर कहा जाता है। संसारावस्था में ये निरंतर साथ रहते हैं। इस चर्चा को वैज्ञानिक संदर्भ में इस प्रकार कहा जा सकता है। वैज्ञानिक पदार्थ की चार अवस्थाएं मानते हैं:– ठोस, द्रव्य, गैस व प्लाज्मा। एक अवस्था और खोजी गई जिसे प्रोटोप्लाज्मा या जैवप्लाज्मा कहा जाता है। अध्यात्म–योग की भाषा में प्रोटोप्लाज्मा हमारी प्राण शक्ति है, जो हमारे अस्तित्व का सटीक प्रमाण है। वैज्ञानिकों का यह कहना है कि प्रोटोप्लाज्मा अमर तत्व है। मृत्यु के पश्चात् भी यह रसायन, जो हमारी कोशिकाओं में रहता है, शरीर से अलग होकर वायुमंडल में बिखर जाता है। वही प्रोटोप्लाज्मा निषेचन की क्रिया के समय "जीन्स" में शिशु के साथ पुनः चला जाता है।

वंश परम्परा विज्ञान की भाषा में पृथ्वी में भी कुछ अति सूक्ष्म जीव होते हैं जिन्हें विषाणु (Virus) कहते हैं। ये विषाणु जैसे ही किसी जीवित (Living Media) माध्यम के सम्पर्क में आते हैं तो इनकी असंख्यात गुना वृद्धि होती है। इनका शरीर एक कोशिका से बनता है जिसे बैक्टीरिया कहते हैं। उसमें एक केन्द्रक होता है। केन्द्रक में D.N.A. होता है। उसमें वंश–वृद्धि के गुण होते हैं। इसी कारण यह एक कोशीय जीव चयापचय की क्रिया करता है। वंश–वृद्धि का घटक तत्व D.N.A. है, जो एक कोशीय जीव में भी पाया जाता है।

क्लोनिंग अर्थात् प्राणी प्रतिलिपिकरण

किसी जीव विशेष का जैनेटिकल प्रतिरूप पैदा करना अर्थात् डोनर पेरेन्ट (नर या मादा कोई एक) की हू–ब–हू शक्ल सूरत (प्रतिलिपि) पैदा कर देना क्लोनिंग कहलाता है। इसे जैन कर्म–सिद्धान्त के अनुसार शरीर–नाम–पर्याप्ति कर्म के विपाक

का फलित माना जा सकता है। किसी भी जीव के गुणों का निर्धारण उसकी घटक कोशिकाओं के अन्दर स्थित गुणसूत्रों के द्वारा होता है। विभिन्न विकसित प्राणी लैंगिक प्रजनन की विधि द्वारा अपनी सन्तानों को उत्पन्न करते हैं, जिसमें नर एवं मादा की जनन कोशिकाओं के आधे आधे गुणसूत्र (वंशसूत्र) मिलकर एक नई रचना करते हैं जिनमें जनक माता–पिता के गुण मिले रहते हैं। क्लोनिंग में मात्र नर अथवा मादा की सामान्य दैहिक कोशिकाओं के गुणसूत्रों के द्वारा सन्तान उत्पन्न की जाती है जो कि स्वभाविक रूप से उनके दाता व्यक्ति (जनक) जैसी ही होती है। अविकसित जीवों, पेड़ पौधों आदि में तो यह क्रिया कायिक प्रजनन, अलैंगिक प्रजनन आदि के रूप में प्राकृतिक रूप में पाई जाती है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों ने विकसित जीवों चूहों, भेड़ों एवं मनुष्यों तक को इस विधि से उत्पन्न करना शुरू कर दिया है।

स्तनधारी पशुओं में क्लोन बनाने (पैदा करने) की तकनीक

प्रत्येक पशु तथा वनस्पति में अनेक कोशिकाएं (Cells) पाई जाती हैं। मनुष्य के शरीर में इन कोशिकाओं की कुल संख्या लगभग 60–70 खरब है। प्रत्येक कोशिका (Cell) अपने आप में पूर्ण जीवित इकाई होती है। कोशिका के केन्द्र में एक नाभिक (Nucleus) होता है जिसे केन्द्रक भी कहते हैं। केन्द्रक के अन्दर उस जीव के गुणसूत्र (वंशसूत्र) होते हैं। मनुष्य की कोशिका में गुणसूत्रों (Chromosomes) की संख्या 46 होती है। इन गुणसूत्रों में ही आनुवांशिकी (Heredity) के सभी गुण मौजूद होते हैं। गुणसूत्रों की रचना डी.एन.ए. (D.N.A.) तथा आर.एन.ए. (R.N.A.) नामक रसायनों से निर्मित होती है। इन गुणसुत्रों पर जीन स्थित होते हैं। कोशिका के केन्द्रक के चारों और एक जीव–द्रव होता है जिसे प्रोटोप्लाजमा कहते हैं।

नर के शुक्राणु (Sperm Cell) तथा मादा के अण्डाणु (Egg cell) भी परिपक्व कोशिकाएं होती हैं, इनमें द्विगुणन द्वारा वृद्धि नही होती। स्तनधारी पशुओं में लैंगिक (Sexual) प्रजनन होता है। इस प्रक्रिया में शुक्राणु, अण्डाणु के साथ मिलकर (Fusion) एक नई कोशिका का निर्माण होता है। इस नई कोशिका में द्विगुणन (Copying) करने की क्षमता होती है जिससे वह भ्रूण में परिवर्तित हो जाता है। इस कोशिका के केन्द्रक में गुणसूत्रों की संख्या तो 46 होती हैं, लेकिन इनमें से आधे गुणसूत्र नर के तथा शेष आधे मादा के होते हैं। इसके विपरीत क्लोनिंग द्वारा उत्पन्न नई कोशिका में सारे के सारे गुणसूत्र किसी एक ही के होते हैं।

स्तनधारी पशुओं में क्लोन पैदा करने की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार से है–

इसके लिए सर्वप्रथम मादा के एक स्वस्थ अण्डाणु (Egg cell) को काम में लिया जाता है। इस अण्डाणु (Egg cell) में से विशेष तकनीक द्वारा केन्द्रक (Nucleus) को अलग कर दिया जाता है तथा उस केन्द्रक–विहीन कोशिका (Protoplasma) को एक सुरक्षित स्थान पर कल्चर मीडियम में डुबोकर रख दिया जाता है। अब हमें जिस प्रकार के जीव का क्लोन तैयार करना है (उस प्रकार के डोनर पेरेन्ट) त्वचा में से कोशिका (Cell) अलग कर दी जाती है। इस कोशिका के केन्द्रक (Nucleus) को बड़ी सावधानीपूर्वक अलग कर दिया जाता है। इस केन्द्रक को पूर्व में सुरक्षित की गई केन्द्रक–विहीन कोशिका (Protoplasma) में प्रतिस्थापित (Transplant) कर दिया जाता है। इस प्रकार एक नई कोशिका पैदा हो जाती है जिसका केन्द्रक डोनर पेरेन्ट की कोशिका का केन्द्रक होता है। इस प्रकार नई कोशिका में गुणसूत्र वे ही होते हैं जो कि डोनर पेरेन्ट (Donor Parent) के होते हैं। यही नई कोशिका द्विगुणन (Copying) द्वारा भ्रूण में परिवर्तित हो जाती है। इस भ्रूण को किसी भी मादा के गर्भाशय में स्थित कर दिया जाता है जहां वह सामान्य रूप से विकसित होने लगता है। इस प्रकार जो नवजात पैदा होता है उसमें गुणसूत्र वे ही होते हैं जो कि डोनर पेरेन्ट के होते हैं, अतः उसकी शक्ल सूरत हू–ब–हू डोनर पेरेन्ट (Donor Parent) जैसी ही होती है यानि कि वह डोनर पेरेन्ट (Donor Parent) की कार्बन कॉपी ही होती है। इस प्रकार हम जिसका प्रतिरूप (कॉपी–क्लोन) तैयार करना चाहते हैं उसका केन्द्रक मादा के केन्द्रक–विहीन (Prtoplasma) अण्डाणु में प्रतिस्थापित करना होगा। यदि हम नर का क्लोन तैयार करना चाहते हैं तो उसकी कोशिका (Cell) का केन्द्रक और यदि मादा का क्लोन तैयार करना चाहते हैं तो मादा की कोशिका का केन्द्रक मादा के केन्द्रक–विहीन अण्डाणु में प्रतिस्थापित करना होगा।

जैन कर्म–सिद्धान्त तथा मानव क्लोनिंग

जैन धर्मानुसार जीवन की विभिन्न क्रियाओं, रचनाओं तथा घटनाओं का नियंत्रण कर्मों के द्वारा होता है। विभिन्न जीवों को मिलने वाले अलग–अलग शरीर, आयु, गोत्र, सुख–दुःख आदि का निर्धारण विभिन्न कर्म करते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जीवन का पूर्ण संचालन कर्मों के द्वारा ही होता है। वस्तुतः कर्म तो मात्र परिस्थितियों का निर्माण करते हैं किन्तु उन कर्मों के अनुसार आचरण करना या नहीं करना जीव स्वतंत्र है। आत्मा कर्मों के कारागार में बंधी अवश्य है परन्तु वह अपने पुरूषार्थ के द्वारा कर्मों के फल में परिवर्तन कर सकती है। चेतना की स्वतंत्र शक्ति के द्वारा कर्मों पर विजय पाना ही जिनधर्म हैं।

अब यहां सवाल यह है कि जब वैज्ञानिक ही मानव तथा अन्य जीवों के लिए विभिन्न गुणों का निर्धारण करने लगे हैं तो जैन कर्म–सिद्धांत कहां लागू होता है? शरीर में किसी प्रकार परिवर्तन करना क्या कर्म–सिद्धान्त को चुनौती नहीं है? इस विषय में यह कहना उचित होगा कि एक अपराधी किसी व्यक्ति का अंग–भंग कर देता है या कोई व्यक्ति शल्यक्रिया के द्वारा अंग परिवर्तित करवा लेता हैं अथवा कोई मानसिक उपचार के द्वारा अपराधी प्रवृति से छुटकारा पा लेता है या फिर जहर / दुर्घटना से असमय में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, तो यह सब कर्म–सिद्धान्त के लिए चुनौती नहीं माने जा सकते। यही कार्य अब और भी व्यवस्थित रूप से परन्तु अप्राकृतिक, अनैतिक रूप से क्लोनिंग प्रक्रिया के द्वारा वैज्ञानिक कर रहे हैं। एक समान मनचाहे जीवों को पैदा करने की बात भी बिल्कुल अधूरी है। एक जैसी शक्ल सूरत शरीर बन जाने का यह अर्थ नहीं होता है कि उसका व्यक्तित्व और व्यवहार भी एक जैसा हो अर्थात् यह जरूरी नहीं की अपराधी का क्लोन अपराधी तथा वैज्ञानिक का क्लोन वैज्ञानिक ही बने। लोगों को लगता हैं कि क्लोनिंग के द्वारा किसी भी जीव को वैज्ञानिक सुनिश्चित रीति से बना सकते है परन्तु ऐसा नहीं है। पहली क्लोन भेड़ का निर्माण इस संबंध में किए गए 277 परीक्षणों की असफलता के बाद हुआ तथा मानव क्लोनिंग के 100 में से 1 या 2 मामलों में ही सफलता मिली है।

जो जीव कई बार की असफलताओं के बाद बनते भी है तो वह दरअसल वैज्ञानिकों के द्वारा नहीं बनते हैं। वैज्ञानिक तो मात्र एक निश्चित शरीर रचना के अनुकूल परिस्थितियां देते हैं। उसमें जीव/आत्मा का आविर्भाव उनके बस के बाहर की है। क्लोनिंग सिर्फ शरीर के स्तर तक जुड़ी हुई हैं जबकि आत्मा तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त वैज्ञानिकों और वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं की सीमा से परे हैं। आत्मा तथा पुनर्जन्म का आभास सत्यान्वेषी अहिंसक मानवों को होता है। इसे अभी वैज्ञानिक भी पूरे आत्मविश्वास तथा प्रमाणों के साथ नकार नहीं सके हैं। कारण स्पष्ट है कि इनके अस्तित्व के संबंध में संसार भर में असंख्य प्रमाण/घटनाएं हर समय होती ही रहती हैं।

जैन धर्म तथा प्रौद्योगिकी

जीव विज्ञान की आधुनिक विकसित शाखा जैव प्रौद्योगिकी में मानव जीनोम परियोजना जैनेटिक अभियांत्रिकी, जैनेटिक सर्जरी तथा मानव क्लोनिंग आदि का अध्ययन, अन्वेषण किया जाता है। इसके नूतन अनुसंधानों के द्वारा जीवों के गुणसूत्रों

पर स्थित जीन्स (संस्कारसूत्र) के कई गुणधर्मों का पता चल रहा हैं। जीवों की विभिन्न दशाओं–बुढ़ापा, अपराध, बीमारियां आदि का नियमन भी इन संस्कार सूत्रों से होता है तथा इनके परिवर्तन के द्वारा मनोवांछित जीवन बनाने का दावा वैज्ञानिक कर रहे हैं। जीनों तथा जैनेटिक कोड के इस गुणधर्म को ध्यान में रखते हुए जैनेटिक कोडों और कर्म परमाणुओं के बीच संबंधों पर परिकल्पना वैज्ञानिकों को दी गई है जिस पर कुछ वैज्ञानिक व्यापक अनुसंधान भी कर रहे हैं।

पहले तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि जीन तथा जैनेटिक कोड सर्वोपरी नहीं हैं तथा उन पर शरीरिक, पर्यावरणीय, वातावरण, आंतरिक तथा बाह्य परिस्थितियां भी नियंत्रण रखती हैं। जीवन के क्रियाकलाप उसके स्वयं के शरीर के साथ–साथ दूसरें जीवों के क्रियाकलापों तथा अन्य बाह्य परिस्थितियों द्वारा संचालित होते हैं। इन जीनों तथा इनकों प्रभावित करने वाले उक्त कारण ही अन्ततः कर्म–परमाणुओं की संभावनाओं को सूचित करते हैं जिनकें संबंध में वैज्ञानिक वर्ग फिलहाल पूर्णतः मौन हैं। अगर वैज्ञानिक जैन कर्म–सिद्धांत को समझकर जीवों के विभिन्न कार्य–सच्चाई–झूठ, अहिंसा–अपराध, जीवदया–क्रूरता पर सतत् अन्वेषण करें तो वे इस महान् जैन कर्म–सिद्धान्त को सत्य सिद्ध पाएंगे।

जैन कर्म–सिद्धांत के अनुसार जीव के शरीर की रचना उसके नाम–कर्म के कारण होती है। कोई जीव कैसी शक्ल–सूरत प्राप्त करेगा उसका निर्धारण इसी नामकर्म से होता है। लेकिन यहां तो क्लोन से शरीर की रचना मनुष्य के अपने ही हाथों में आ गई है। हम जैसी शक्ल–सूरत बनाना चाहते हैं बना सकते हैं। ऐसी स्थिति में नामकर्म की अवधारणा अर्थहीन हो गई है। लेकिन ऐसा सोचना सही नहीं हैं। वस्तुस्थिति समझने के लिए हमें जैन कर्म–सिद्धान्त को गहराई से समझना होगा।

सबसे पहले तो हमें स्पष्ट करना होगा की प्रत्येक घटना मात्र कर्म से घटित नहीं होती। आचार्य महाप्रज्ञजी ने अपनी पुस्तक कर्मवाद में लिखा है–"कर्म से ही सब कुछ नहीं होता। यदि हम कर्मों के अधीन ही सब कुछ घटित होना मान लेंगें तो यह वैसी ही व्यवस्था हो जाएगी जैसी कि ईश्वरवादियों की हैं कि जो कुछ होता है वह ईश्वर की इच्छा से होता है या फिर उन नियतिवादियों की स्थिति है कि सब कुछ नियति के अधीन है, हम उसमें कुछ भी फेर–बदल नहीं कर सकते। यदि कर्म ही सब कुछ हो जाए तो उनको क्षय करने के लिए न तो पुरूषार्थ का ही महत्व रह जायगा और नहीं मोक्ष संभव होगा क्योंकि जैसे कर्म होंगे वैसा ही उनका उदय होगा और उस उदय के अनुरूप ही हम कार्य करेंगें तथा नए कर्मों का बंधन करेंगें। इससे पुरूषार्थ तथा मोक्ष की बात गलत सिद्ध हो जाएगी।" अब यह स्पष्ट है कि कर्म ही

सबकुछ नहीं हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी आगे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– "कर्म एक निरंकुश सत्ता नहीं है। कर्म पर भी अंकुश है। कर्मों में परिवर्तन भी किया जा सकता है। भगवान महावीर ने कहा–"किया हुआ कर्म भुगतना पड़ेगा।" यह सामान्य नियम है, लेकिन इसमें कुछ अपवाद हैं। कर्मों में उदीरणा, उद्वर्तन, अप्वर्तन तथा संक्रमण संभव हैं जिसके द्वारा कर्मों में परिवर्तन भी किया जा सकता है। सामान्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि पुरूषार्थ द्वारा कर्मों की निर्जरा समय से पहले की जा सकती है। कर्मो की काल मर्यादा और तीव्रता को बढ़ाया और घटाया भी जा सकता है तथा सजातीय कर्म एक भेद से दूसरे भेद में बदल सकते हैं। उदय में आने वाले कर्मों के फल की शक्ति को कुछ समय के लिए दबाया जा सकता है तथा काल विशेष के लिए पुनः फल देने में अक्षम भी किया जा सकता है, इसे उपशम कहते हैं।"

आचार्य महाप्रज्ञजी का मानना है– "संक्रमण का सिद्धान्त जीन को बदलने का सिद्धान्त है।" एक विशेष बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि कर्मों का विपाक (फल) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुरूप होता है। व्यक्तित्व के निर्माण में कर्म ही सबकुछ नहीं होते हैं बल्कि आनुवांशिकता, परिस्थति, वातावरण, भौगोलिकता, पर्यावरण यह सब मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार पर असर डालते हैं। आयुष्य भी एक कर्म हैं लेकिन बाह्य निमित्त जहर आदि के सेवन से आयुष्य को कम कर दिया जाता है। इसी प्रकार कोशिका (Cell) गुणसूत्रों (Chromosome) में अवस्थित जीन्स (संस्कारसूत्र) में परिवर्तन करके शक्ल–सूरत में परिवर्तन किया जा सकता है क्योंकि जैन कर्म–सिद्धान्त के अनुसार संक्रमण द्वारा यह संभव है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैन कर्म–सिद्धान्त के अनुसार मानव जीनोम परियोजना, जैनेटिक अभियांत्रिकी, जैनेटिक सर्जरी, मानव क्लोनिंग द्वारा एक ही शक्ल–सूरत वाले जीव पैदा करना, कोशिका के केन्द्रक को परिवर्तित कर देना संभव है। अतः वंश–परम्परा विज्ञान (Genetic Science) कर्म सिद्धान्त के लिए कोई चुनौति नहीं हैं बल्कि जैन कर्म–सिद्धांत को व्यवस्थित तरीके से समझ लेने पर वंश–परम्परा विज्ञान (Genetic Science) की व्याख्या जैन कर्म–सिद्धांत के आधार पर आसानी से की जा सकती है।

जैन कर्म–सिद्धान्त और वंश–परम्परा विज्ञान (Jain Theory of Karma and Genetic Science) दोनों का गहन अध्ययन व शोध कर जन–मानस तक यह तथ्य उजागर करना है कि हर प्राणी पुरूषार्थ कर संक्रमण के द्वारा अशुभ कर्मों को शुभ में बदल सकता है तथा त्याग, संयम, संवर और निर्जरा के द्वारा स्थूल शरीर के

जीन्स के स्वरूप को भी बदला जा सकता है। वंश–परम्परा विज्ञान (Genetic Science) की शोध कर यह उद्घाटित करना है कि किसी भी प्राणी के जखी "जीन्स" के स्थान पर स्वस्थ "जीन्स" का प्रत्यारोपण कर स्थूल शरीर को उन्नत किया जा सकता है।

हमारी आत्मा चिन्तन व पुरूषार्थ में स्वतंत्र हैं, परन्तु कर्मों की बद्धता के कारण परतंत्र है। आत्मा के पुरूषार्थ से त्याग, संयम, संवर, निर्जरा करके प्राणी अपनी आत्मा की शुद्धि करके स्थायी सुखानुभूति प्राप्त कर सकता है। "भाव परिवर्तन" द्वारा कर्मों की निर्जरा तथा "जीन्स" का रूपान्तरण किया जा सकता है।

वंश–परम्परा विज्ञान (Genetic Science) की शाखा क्लोनिंग तकनीक के द्वारा मानव के विभिन्न अंगों को प्रयोगशाला में ही विकसित किया जा सकता है जिससे कई असाध्य रोगों को दूर करने में आसानी होगी। इसके अलावा इस तकनीक से विभिन्न बेकार जीन्स को बदला जा सकेगा तथा बुढापे को रोका जा सकेगा। इसी चिकित्सकीय उपयोगिता को देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने जनवरी 2001 में मानव क्लोनिंग की इजाजत दे दी है।

कर्म सिद्धान्त में वर्णित आत्मविकास के विभिन्न आयाम

डा0 अजित जैन
म0प्र0 पुलिस विभाग, ग्वालियर

1.1 आत्मविकास की अवधारणा

जीव और कर्म का संबंध अनादिकाल से है। मनुष्य योनि जीव का उच्चतम शिखर है। जो आत्मविकास का मार्ग प्रशस्त करता है। मनुष्य अपने जीवनकाल में नाना प्रकार के कर्म करता है। कर्म अपरिहार्य स्थिति है किन्तु कर्म ही वह हेतु है जो व्यक्ति के आत्मविकास के मार्ग को प्रशस्त करता है। मानव प्रकृति की अमूल्य धरोहर है। सभी प्राणियों में मानव को उसकी बौद्धिक क्षमता के कारण अलग रखा जाता है।

व्यक्ति की स्थिति का निर्धारण उसके कर्मों द्वारा ही होता है। यह एक सनातन व्यवस्था है। अपनी बौद्धिक क्षमता के कारण व्यक्ति अपने आत्मविकास का मार्ग स्वयं निर्धारित कर सकता हैं।

" आत्मविकास का आध्यात्मिक स्वरूप में एक ही आशय है व्यक्ति अपनी अंतर्चेतना में प्रविष्ट होकर सम्यक् दृष्टि प्राप्त करें। "

" निजस्वरूप का ज्ञान ही आत्मविकास है। "

1.2 मानव जगत की वर्तमान दशा

महाभारत काल से लेकर अब तक मानव जाति निरंतर पतन के मार्ग पर अग्रसर है। हम अब तक हजारों युद्वों में सहस्त्र करोड़ों इंसानों को मिटा चुकें है। करोड़ों अपंग और अनाथ हो गए हैं। सारी धरती पर वैमनस्यता का जहर फैला हुआ है। धर्म,जाति,संप्रदायों के बटवारे में मानव समाज का प्रेम जहरीला होता जा रहा है। हम चौबिसों घंटे लड रहें हैं। कभी राजनिति में, कभी धर्म संप्रदायों में, कभी निजी स्वार्थो में, इतने पर भी मन नहीं भरता है। तो लडाई वाले खेल ईजाद कर लिए। शतरंज में गोटियों से युद्व कर लेते हैं। हमारे संबंध भी लडाई बन गए है। पति–पत्नि, पिता–पुत्र, भाई–भाई निरंतर लड़ाई में संलग्न है। रोज हत्याए होती हैं। जीवन में चारों ओर मारकाट की गूंज सुनाई दे रही है। आखिर मानवता को क्या हो गया है? कोई धन के लिए पागल है, कोई यश के पीछे भाग रहा है, कोई पद के लिए लड रहा है। अब तो अकारण ही लडने की आदत पडती जा रही है। और तो

और प्रेम के लिए भी लडाईयाँ होती रहती है। कहीं हथियारों से लड रहें है, कुछ विचारों की तलवार चलातें है, कुछ सिद्वांतों की लडाई लडतें है, हिन्दु–मुस्लिम, सिक्ख–ईसाई, जैन, बौद्व सिद्वान्तों को टकरा लेतें है। इससे काम नहीं चलता तो तलवार निकल आती है। आखिरकार कौन सा रोग है? क्या बीमारी है?

चिकित्सा का सिर्फ एक ही सिद्वान्त है। रोग के कारण का मालूम होना। रोग का कारण मालूम हो तो औषधि, औषधि है। अन्यथा प्रतिकूल दवा तो बीमारी को विस्तार ही देगी।

2.3 रूग्ण मानवता के कारण

आखिर मानव समाज के मध्य जहर का पौधा आया कहाँ से? इसकी खोज जरूरी है। इस खोज के पूर्व रोग के बारे में कुछ भी कहना असंगत है।

बुद्व, महावीर, जीसस, मोहम्मद, कृष्ण आदि अवतार या महापुरूष आप जो भी स्वीकारें, वे किसी के पीछे नहीं जाते। इन सभी के जीवन में जो सुगन्ध थी, जो सौन्दर्य था, माधुर्य था, उसने इन सभी महामानवों को लोकोत्तर बना दिया। उनके जीवन में आत्म ज्योति का दिव्य प्रकाश आलोकित था। उस आलोक में आनंदित होकर लोग अपनी सुध–बुध खो बैठते थे। अलौकिक आनंद के अनुभव ने लोगों को अनुयायी बना दिया।

जिन युग पुरूषों ने अपनी कर्म भूमि में सम्यक् ज्ञान, आत्मज्ञान का साक्षात्कार किया, आनंदस्वरूप हो गए, वह किसी मत अथवा किसी शास्त्र, वेद, पुराण के ज्ञान से नहीं हुए, निजत्व के ज्ञान से हुए। यह कैसी विडम्बना थी कि उनके अनुयाइयों ने उनकी वाणी को ही शास्त्र बना डाला। उनके नाम पर अलग–अलग धर्मों की स्थापना कर डाली। एक–एक धर्म को बीसियों संप्रदाय, उपसंप्रदायों में विभाजित कर दिया। जो समस्त मानव समुदाय की धरोहर थे उन्हें अलग–अलग धर्मों की दीवारों में कैद कर दिया।

बुद्व पुरूष जीवित होता है तो उसके भीतर ज्ञान की, प्रेम की अमृतधारा प्रवाहित होती है। जिसके झरनें बाह्य दुनिया मे फूट पडतें हैं। जब वह बुद्व पुरूष संसार से विदा लेता है तो अनुयायी उनके शब्दों का एकत्रीकरण करते हैं। एकत्रीकरण में बहुत कुछ छूट जाता है, बहुत कुछ बदल जाता है, फिर उसे शास्त्र का रूप प्रदान किया जाता है। शास्त्रों के संबंध में एक बात और भी है। पुराने शास्त्र किसी एक व्यक्ति के लिखे हुए नहीं हैं। अनेक व्यक्तियों ने अपने–अपने ढंग से लिखा है। नए–नए लोगों द्वारा नए–नए अर्थ जुडते गए। बुद्व के नाम से इतने शास्त्र

है कि एक व्यक्ति द्वारा लिखा जाना असंभव है। व्यास का नाम प्रसिद्व हो गया तो लोगों ने व्यास के नाम से ही लिख डाले और व्यास की साख से फायदा उठा लिया। कितनी रामायणें है वाल्मीकी से लेकर तुलसीदास तक राम कथा की साख है। ज्ञानी, अज्ञानी सभी ने फायदा उठाया। अब इनमें विरोधाभास होता हो तो होता रहे। दिगम्बर, श्वेताम्बर, तेरापंथी, स्थानक, मंदिरमार्गी संप्रदायों में जैन धर्म विभाजित है, सबके अपने–अपने अलग–अलग नियम है।

शास्त्रों का धर्म स्वस्थ आदमी के पचाने लायक नही रह गया है उसकी ऊर्जा ऊष्मा खो चुकी है। मृत लाश पड़ी है। जीवित बुद्व पुरूष का भ्रम होता है किन्तु कुछ भी नही बचा, पिंजरा रह गया है, आत्मा तो कभी की उड चुकी। दूसरा भ्रम इन ग्रन्थों के महावाक्यों के अर्थ का है।

जीसस ने मृत्यु पूर्व शिष्यों को भोज देकर कहा था यह तुम्हारा भोजन असाधारण भोजन होगा। मेरा मांस, मेरी मज्जा, ये खून, मुझे खाओ पियो पचाओ।

पढने से लगता है, जैसे जीसस शिष्यों को स्वयं का मांसाहार करा रहे हो। यही अर्थ लगाया जाता है। प्रत्येक धर्म ग्रन्थों में ऐसे अनेकानेक महाकाव्य मिल जाएगें मगर उनका अर्थ अलग–अलग निकालकर उनका स्वरूप ही बदल दिया गया।

मगर कोई बुद्व पुरूष तो क्या मूढ़ व्यक्ति भी इस तरह की बेवकूफी की बात नहीं करेगा। इन शब्दों का गहन अर्थ है, अद्भुत रहस्य है। जीसस कह रहे हैं, सिर्फ अनुयायी बनकर रह जाओगे तो चूक जाओगे, मेरे शब्दों को पकडकर रहोगे तो भटक जाओगे। तुम्हारे भीतर वही चैतन्य आर्विभूत होना चाहिए जो मेरे भीतर हुआ है। वही ज्योति जलना चाहिए जो मेरे भीतर जली ये है पचाना। क्योंकि अनपचा रूग्ण कर देगा।

तैत्तरीय उपनिषद की कथा है कि गुरू अपने शिष्य से नाराज हो गया तथा सिखाई विद्या वापस करने को कहा। शिष्य ने विद्या का वमन कर दिया। उस वमन को देवता तीतर बनकर आए और पचा गए। उसी को इकटठा करके तैत्तरीय उपनिषद् बना। उच्छिष्ट ज्ञान है। जिसमें मिलावट और दुर्गन्ध है। वमन को देवता ही पचा सकते हैं साधारण इंसान नहीं। विद्या का वमन नही किया जा सकता उदाहरण प्रतीकात्मक है। शिष्य पूर्ण ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सका छोडकर चला गया। उस अधकचरे ज्ञान का उपनिषद् बनाया गया। लेकिन वमन का अर्थ लोग सामान्यतः उल्टी करने से लेते हैं।

वेद, पुराण, कुरान, बाईबिल, जैन शास्त्र आदि सभी उच्छिष्ट ज्ञान है। सभी

शिक्षाए मुर्दा हैं। एक दूसरे की आलोचना करती हैं। विभिन्न विरोधाभासों से भरी पडी हैं।

एक बाउल फकीर ने गीत गाया जिसका अर्थ इस प्रकार है।

जब कोई व्यक्ति धर्म की ज्योति को उपलब्ध होता है तो उसके हाथ में ज्ञान की मशाल आ जाती है। उससे प्रभावित होकर अनुयायी के रूप में कुछ लोग पीछे लग जातें हैं। जब वह महापुरूष परमात्मा में विलीन हो जाता है तो आलोकित मशाल नीचे गिरकर बुझ जाती है। डण्डा मात्र रह जाता है।

उस डण्डे को उसके अनुयायी उठा लेते है। ऐसे ही महापुरूषों के अनुयाइयों ने डण्डे उठाए हुए हैं। जो अज्ञान के अंधकार में एक दूसरे से टकराते रहते हैं। सारे धर्मो के अनुयायी यही कहानी दोहरा रहे हैं। अन्यथा कौनसा धर्म है जो झगडा करने का संदेश देता है?

तो पहली बात सिरे से ही गलत है कि धर्मशास्त्र आत्मविकास के प्रणेता हैं। क्योंकि कोई महापुरूष इनके पीछे नहीं गया। आत्मविकास की उपलब्धि के लिए हमें अपने स्वरूप में ही उतरना पडेगा। शास्त्र और ग्रन्थ काम नहीं आते।

दूसरी बात जिन महापुरूषों को सत्य के दर्शन हुए, आत्मिक अनुभूति का दिव्य आलोक उनके जीवन में उतरा, जीवन के शिखर उपलब्ध हुए, वह परमानंद की अवस्था है।उस अनुभूति को शब्दों में बांध पाने का कोई उपाय नहीं वह शब्दातीत है, अर्थातीत है। उस पुलकित चेतना के सौन्दर्य को शब्दों में व्यक्त करने का कोई उपाय नहीं है। हम इसे शब्दों में बांधेगें तो चूक जाएगें। सभी जाग्रत महापुरूष एक इशारे मात्र हैं। सारे शब्द, सारे अर्थ यहाँ झूठे पड़ जाते हैं। आत्मानूभूति के लिए स्वयं के भीतर अज्ञात में अकेले ही उतरना पडता है। यही एक इशारा भर है। जिसे अवतारी पुरूष भी इशारों में मुश्किल से समझा पाते हैं। हम उनसे अधिक ज्ञानवान प्रतीत होते हैं। जो शास्त्रों में शब्दों और अर्थों के माध्यम से बडी आसानी से समझाते आए हैं और लोग भी बडी आसानी से समझ लेते हैं। जिसे समझने के लिए महापुरूषों ने सारा जीवन चुका दिया। वह चाहते तो शास्त्र पढते और समझ लेते, व्यर्थ ही मेहनत की, इतने कष्ट उठाए। हम सभी समझदार लोग हैं। शास्त्रों से ही प्राप्त कर लेते हैं।

केवल समझ ही नही लेते, दूसरे तमाम लोगों को भी समझा देते हैं। तत्वाचिंतन चल रहा है। शास्त्रार्थ हो रहे है, उपदेश चलते रहते है। हर कोई उपदेशक हो गया है। हजारों व्याख्याकार, हजारों टीकाकार हो गए है। गीता की एक–एक चौपाई के कई अर्थ कर डाले। कई तो विरोधाभासी अर्थ भी है। अब कृष्ण

में अकल नहीं थी या टीकाकार अधिक समझदार है। ये तो वही जाने, मगर सभी धर्म ग्रन्थों का यही हाल है। इनकी शिक्षा ही रूग्ण है। रूग्ण शिक्षा हमेशा रूग्णता को जन्म देगी। यही होता आ रहा है।

तत्वा चिंतकों का बुद्धिविलास, आत्मविकास का नहीं, भटकाव का मार्ग है। कई उपदेशकों की जीविका का साधन ही धर्म बन गया है। क्या इनके उपदेश हमारे आत्म विकास का पथ प्रर्दशन कर सकते हैं? नही, ये भी भटकाव का मार्ग है। उपदेशक स्वयं भटक रहे हैं। तर्कशास्त्री बढते जा रहे हैं। इनके पास हर प्रश्न का उत्तर है। ये तो जन्म से अन्धे व्यक्ति को भी प्रकाश समझा सकते है। ऐसे तर्क है इंसान के पास। अंधा व्यक्ति प्रकाश क्या समझ पाएगा? उसने प्रकाश कभी देखा ही नही, न प्रकाश का अनुभव किया। प्रकाश तो दूर की बात है, वह तो अंधकार भी नहीं जानता। क्योंकि अंधकार की अपनी कोई विधायक सत्ता नहीं होती, वह तो प्रकाश की अनुपस्थिति भर है।

एक अंधे ने एक तर्कशास्त्री से पूछा प्रकाश का क्या अर्थ है? उत्तर मिला उजाला। अंधा बोला मैं तो उजाला भी नही जानता, फिर उत्तर मिला दूध की तरह सफेद जक। सफेद यानि हंस जैसा। अंधा तो हंस को भी नही जानता अब समझाना मुश्किल था किन्तु कथित ज्ञानियों के पास ज्ञान की कोई कमी नही। उन्होने फिर समझाया, ये जो तुम्हारी गर्दन है उसी तरह हंस की गर्दन होती है। अब अंधा समझ गया प्रकाश का अर्थ है हमारी गर्दन।

आत्मा, परमात्मा के बारे में हम भी अंधे है। जिसे देखा नही, उसे शब्दों में समझना चाहते है। अंधे अंधों को समझा रहे हैं।तर्क चल रहे हैं। "ये है हमारी बीमारी"।

जीसस ने प्रेम का संदेश दिया उनका हर क्षण प्रेममय था उन्होने कहा तुम्हारे गाल पर कोई एक तमाचा मारे, तुम दूसरा गाल भी आगे कर देना। बडी अदभूत बात थी इस वाक्य में जो तुमसे घृणा करता हो उसे भी प्रेम देना। प्रेम विधायक सत्ता है प्रेम ही नफरत को प्रेममय बना सकता है। नफरत से कभी प्रेम पाया गया हो ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है। मगर उनके अनुयाइयों ने इंसानियत के गाल पर लाखों तमाचे मारे हैं। सब कुछ उल्टा–पुल्टा चल रहा है।

मुहम्मद ने शांति का संदेश दिया। उन्होने कहा शांति के खातिर स्वयं को कुर्बान किया जा सकता है। शांति अनमोल है। स्वयं को खोकर भी इसे पाना पडे तो भी सस्ता सोदा है। मगर इस्लाम के अनुयाइयों ने जितनी हत्याएँ की है, कि जितनी अशांति फैलाई है, वह सबके सामने खुली किताब की तरह है और यह सब

भी मजहब और धर्म के नाम पर जायज ठहराया जाता है। धर्म के पतन का इससे बडा उदाहरण और क्या हो सकता है।

महावीर ने कहा अपरिग्रह मगर सारे अनुयायी परिग्रह में तल्लीन हैं। सबसे अधिक परिग्रह इन्हीं के पास है। महावीर ने कहा समस्त शास्त्र बाहर है। स्वयं के अंदर खोजो उसे किसी भी स्तुति से नहीं पाया जा सकता। अनुयाइयों ने उनकी वाणी को ही शास्त्र बना लिया तथा उन्ही की स्तुति में तल्लीन है।

राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद सभी के साथ यही घटना घटी है। वे कुछ कहते हैं अनुयायी शास्त्रों में समझते कुछ और ही है, लिखते कुछ और है तथा करते कुछ और ही हैं। इन्हीं पर तत्व चिंतन चलता है, टीकाएँ लिखी जाती हैं। उपदेश चलते रहते हैं। कथित ज्ञानी इन्हीं सारी बातों को चिल्लाते रहते हैं। दोहराते जाते हैं। मगर मनुष्य और गहरे दुःख में उतरता जाता है। उपदेश का भार बढता जा रहा है। प्राणियों की शांति नष्ट होती जा रही है।

शास्त्रों तथा पुस्तकों के तर्कों से हम पांडित्व को प्राप्त कर सकते हैं, दूसरों को समझाने का कितना ही दम स्वयं में पैदा कर लें मगर प्रज्ञा को उपलब्ध न हो सकेगें। जिन्दगी का प्रश्न हल न कर सकेंगें। अलग–अलग धर्मों के अलग–अलग प्रश्न हैं। जैन के अलग हैं, बौद्ध के अलग हैं, हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई सबके अलग–अलग प्रश्न है। ये प्रश्न शास्त्र उठातें है मगर जीवन के प्रश्न अलग–अलग नही होते। जिन्दगी सिर्फ एक ही प्रश्न उठाती है।

जैन आगमों की टीकाएँ भी मूलस्पर्शी नहीं रही है। जैसा की पंडित बेचरदास ने लिखा है–

हुं सूत्रों की टीकाओं सारी रीते जोइ गयो छूं, परन्तु तेमां मन घणे ठेकाणे मूल नूं मूसल करवा जेवुं लाग्युं छे ।

जैन साहित्य मां विकास थवा थी
थयेली हानि, पृष्ठ–123

भगवान महावीर ने जातिवाद का घोर विरोध किया। आचारांग और सूत्रकृतांग में जाति के मिथ्या अभिमान को चूर करने वाली उक्तियां भरी पडी हैं। फिर भी आज के बहुसंख्यक जैन जातिवाद को अपनी बपौती की वस्तु मान बैठें हैं।

महापुराण 16/186

2.1 धर्मस्थलों और धर्मग्रन्थों का महत्व

शब्दों के जाल कभी–कभी उपद्रव खडा कर देते हैं। इस शोध पत्र का ही

उदाहरण लीजिए इसे पढ़ने से एक बारगी श्रोता या पाठक सीधा अर्थ निकालेगा धर्म ग्रन्थ का अब कोई महत्व नही रह गया है। सब शास्त्र झूठे हैं, व्यर्थ हैं उनका कोई उपयोग नहीं रहा। इशारा समझने के स्थान पर शब्दों पर तर्क ही हमारी बुनियाद है।

एक बालक जब शिक्षा के योग्य होता है पाठशाला में कक्षा एक में बारहखडी सीखता है। धीरे–धीरे वह एक वैज्ञानिक, डाक्टर, इंजीनियर या अन्य योग्य शिक्षा प्राप्त करता है। यदि उसे सिर्फ कक्षा एक की पुस्तकें पढाई जाती रहे तो?

बस यही सूत्र है हमारे धर्मग्रन्थ केवल धार्मिक शिक्षा की बारहखडी सिखाते हैं। मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर ये सभी प्राथमिक पाठशाला है। जिन्हें धार्मिक शिक्षा की उच्च कक्षाओं में जाना है वहाँ शास्त्र, मंदिर सब छोड देना होता है। अन्यथा कक्षा एक में ही अटके रहेगें। इसीलिए इनका प्राथमिक स्तर पर महत्वपूर्ण स्थान है। आरंभिक धार्मिक चेतना स्थल के रूप में इनकी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि अंतस चेतना में प्रविष्टि के लिए अनावश्यकता।

एक व्यक्ति यहाँ से अमेरिका जाना चाहता है तो उसे घर से रेल्वे स्टेशन पहुँचने के लिए कार या टैक्सी से जाना होगा, फिर मुम्बई के लिए रेलगाडी पकडनी होगी। इसके बाद रेलगाड़ी भी छोडनी होगी। सीधी हवाई यात्रा ही अमेरिका ले जा सकती है। कार या रेलगाड़ी काम नहीं आएगी, किन्तु हवाई यात्रा के लिए भी मुम्बई तक तो पहुँचना होगा क्योंकि हवाई जहाज घर की छतों से नही जाता।

अंतस यात्रा के लिए भी मंदिर यात्रा फिर शास्त्र ज्ञान व्यक्ति को धर्म की प्यास जगाते हैं। मगर इसके बाद की यात्रा हमें स्वयं करनी होती है। कोई मंदिर, कोई शास्त्र हमें वहाँ नहीं पहुँचा सकता, तो कोई भी धार्मिक स्थल या धार्मिक ग्रन्थ, कोई भी ज्ञानी, कोई भी गुरू हमें सिर्फ मुम्बई तक का मार्गदर्शन करा सकता है। यदि कोई अमेरिका तक की यात्रा के स्वप्न दिखलाए समझ लेना वह भी मुम्बई से आगे नही जानता खुद ही मुम्बई में घूम रहा है।

तो धर्म स्थल और धर्मग्रन्थों का केवल इतना ही महत्व है कि मुंबई तक का मार्ग बतलाते हैं और यह भी महत्वपूर्ण है। क्योंकि बिना मुंबई पहुँचे अमेरिका की यात्रा संभव नहीं है।

महावीर जैसा गुरू आज तक के इतिहास में नहीं हुआ । उन्होने गौतम गणधर को अपने निर्वाण पूर्व संदेश दिया था कि तेरी अंतस यात्रा में मैं भी बाधक हूँ। तू मुझे भी छोड दे और इस महाकाव्य के उदघोष से गौतम के जीवन में आत्म

प्रकाश जगमग हो उठा।

सभी धर्म ग्रन्थों में सभी सिद्धान्त व्यर्थ नहीं है और न ही सभी सारगर्भित है। उपयोगी भी है, अनुपयोगी भी है। तो कुछ ऐसा भी है जिसका धर्म से दूर–दूर तक कोई नाता नही है। अंधविश्वास भी है। गप्प कथा भी है। हमें केवल उपयोगी का चुनाव करना है। शेष छोड देना है। जैसे छलनी में छन जाता है।

"सार-सार सो गह रहे, थोथा देउ उडाय।"

बस धर्म शास्त्रों की यही उपयोगिता है।

3.2 उपचारात्मक उपाय

आत्म कल्याण के मार्ग से भटके मानव समाज के लिए उपायों की चर्चा के संदर्भ में निम्न बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है।

(क) आत्म विकास की योग्यता–

सिर्फ एक ही योग्यता कि हमें अपना दुःख समझ पड़ता हो, जो अपने आप को संसार में सुखी अनुभव करता हो, वह धर्म की प्यास को उपलब्ध न हो सकेगा।

बुद्ध को महल में सुख, वैभव, ऐश्वर्य के साथ रखा गया था क्योंकि ज्योतिषियों ने बताया था या तो यह बालक चक्रवर्ती सम्राट बनेगा अथवा सन्यस्त। सन्यास से कौन पिता नही बचना चाहता? आखिर इतना बडा राजपाट कौन सम्भालेगा। सो जैसा ज्योतिषियों ने बताया कि राजकुमार को बुढापा, बीमारी, मौत और सन्यासी से बचाकर रखना क्योंकि बुद्धिमान इन्हें देखकर जीवन की वास्तविकता समझ लेते हैं।

महाराज ने सारे इंतजाम करवा दिए कि राजकुमार को इन चीजों के सम्मुख जाने से बचाया जाए। मगर एक दिन नगर भ्रमण के दौरान राजकुमार ने अत्यंत कृशकाय वृद्ध को देखकर सारथी से पूछा। सारथी को उत्तर देना पडा यह वृद्धावस्था है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन के अवसान काल में यही अवस्था हो जाती है। यह दुःख भोगना ही पडता है।

इसके पश्चात् क्रमशः बीमार आदमी, मश्त आदमी का शव एवं संन्यासी दिखाई पड़े। राजकुमार को मालुम हुआ कि कोई भी शरीर कभी भी बीमार हो सकता है। मृत्यु जीवन का अंतिम सच है। प्रत्येक के जीवन में मृत्यु अवश्य संभावी है तथा संयासी को देखकर ज्ञात हुआ कि जीवन के दुख के कारण यह आदमी सत्य की तलाश में निकला हुआ है और बुद्ध भी उसी रास्ते निकल गए।

तो पहली योग्यता यही है कि हमें जीवन में चारों ओर दुख दिखाई पड़ता हो तभी आप धर्म को, धर्म की प्यास को उपलब्ध होंगें। वगैर प्यास के धर्म आपके

किसी काम का नहीं।

प्राणियों में प्यास की तीव्रता विवश कर देती है मन छटपटाने लगता है। तभी जलपान का आनंद है। अन्यथा नीर–नीर नहीं रह जाता है। पानी का होना भी प्यास होने में है पानी में नहीं।

धर्म की प्यास है तभी धर्म, धर्म है। अन्यथा धर्म, धर्म नहीं रह जाता है। मुख्य बात है धर्म की प्यास। और प्यास उपलब्ध तभी हो सकती है जब हमें हमारा दुख दिखाई पड़ता हो। आत्मविकास के मार्ग में यह अनिवार्य योग्यता है।

(ख) आत्म विकास के रहस्य सूत्र–

एक तत्वचिंतक किसी साधु से आध्यात्म की चर्चा करते थे उस चर्चा में उस विचारक ने बड़ी गहराई से धर्म का सूक्ष्म विश्लेषण किया था एक–एक शास्त्र का अद्भुत ज्ञान था उसे। सभी मंत्रमुग्ध होकर सुन रहे थे। मगर साधु मौन था जब उस विचारक ने साधु से अपनी राय देने को कहा तो साधु ने उत्तर दिया तुमने जो शास्त्रों में, शब्दों से पाया उसे प्रतिध्वनित किया है। इसमें तुम्हारा क्या है। तुम्हारे इस ज्ञान का मूल्य दो कोडी का नही है। ज्ञान वह है जो स्वतः संवेदना से उठता है।

सम्यक् ज्ञान से शास्त्र जन्म लेते हैं। शास्त्रों से सम्यक् ज्ञान जन्म नहीं लेता। जो भीतर पा लेता है शास्त्र को वही समझ पाता है। जो शास्त्र को समझता रहता है, वो खुद को कभी नहीं पा सकेगा। सारे शास्त्र बाहर है, सत्य अंदर है।

स्वतः ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। सम्यक ज्ञान हो तो किसी ग्रन्थ की, किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं रह जाती। लेकिन कोई भी ग्रन्थ कोई भी उपदेश सम्यक ज्ञान तक नहीं पहुँचा सकता।

सम्यक् ज्ञान तक पहुँचने के लिए आत्मदर्शन ही एक मात्र सीढी है। बगैर आत्मदर्शन के सम्यक् ज्ञान तक पहुँचना असंभव है। महावीर की जीवन पद्धति आचार से दर्शन की पद्धति नहीं है। दर्शन से आचार की पद्धति है।

बगिया का एक माली कुछ दिन के लिए बाहर गया। खुबसुरत फूलों का बगीचा था। उसकी देखभाल का कार्य अपने पुत्र को सौंप गया। कुछ दिन बाद जब माली लौटा बगिया सूखी पड़ी थी, हर पौधा मृत हो चुका था। पुत्र रोने लगा बहुत दुःखी था बोला मैंने हर पत्ती को, हर पुष्प को पानी दिया, पौधों की दिन रात सेवा की, चौबीसों घंटे निगरानी की यही बैठा रहता था। माली बोला पागल, फूल पत्ती को नहीं जड़ को सम्भालना पडता है। तुम जड़ को भूल गए पुष्प सम्भाल रहे हो। फूलों

के प्राण जड़ में होते हैं।

अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अचौर्य आदि सभी पुष्प हैं इन्हें सम्भालना पडता है। आत्मदर्शन की जड़ सम्भाल लें तो जीवन में ये पुष्प अपने आप खिल उठते हैं। आत्मदर्शन मूलाधार है। केन्द्रीय परिवर्तन है। ये हमारी भूल है कि हम सम्यक् आचार से सम्यक् दर्शन तक पहुँचना चाहते हैं। सम्यक् दर्शन हो तो सम्यक् आचार अपने आप आ जाता है।

सत्य का प्रकाश निरंतर उपलब्ध है केवल हमें वो आँख दरकार है जिससे हम प्रकाश का अनुभव कर सकें। वह आँख जो सत्य की ओर उठ सकती है। वह भी मौजूद है। केवल उस आँख और सत्य के मार्ग में जो आवरण है उसे अनावृत करना है।

हमारे और सत्य दर्शन के मध्य जो दीवार है वह केवल एक ही दीवार है, "मैं और मेरा" इस दीवार का पर्दा ही आत्मानुभव में सबसे बड़ी बाधा है।

"मैं" का महल मेरा नामक ईंटों से निर्मित होता है। इन ईंटों को कर्म की जंजीरें भी कहा जाता है। हम निरंतर प्रतिपल एक–एक ईंट, एक–एक नई कडियों की जंजीरें निर्मित करते जाते हैं।

मेरा पद, मेरा नाम, मेरा धर्म, मेरी शोहरत, मेरी संपत्ति, मेरा मकान, मेरा परिवार, मेरा शरीर आदि–आदि पत्थर हमारे मैं को मजबुत करते जाते हैं। यदि देखा जाए तो हमारे वश इनमें से कुछ भी नहीं है।

हम अपने आप को जन्मा हुआ पाते हैं। जन्म में हमारी कोई मर्जी होती है। फिर बचपन, जवानी, बुढापा, मृत्यु सभी कुछ हमारे अनचाहे अपने आप घटित होता है। हमारी मर्जी का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बीमारी भी आती है। अनजाने, चुपचाप, हमारा कोई वश नहीं।

कुछ लोग कहते हैं हमने क्रोध किया। क्या सचमुच क्रोध किया जा सकता है। क्रोध करते समय क्रोध करने वाला अनुपस्थित होता है। उसी तरह जब प्रेम होता है तो वह भी अनजाने ही होता है। प्रेम किया नहीं जा सकता और जो किया जाता है वह प्रेम नहीं कुछ और चीज ही होगी। जीवन की सारी भावनाओं का छोर अज्ञात है। हमें तो होने के बाद होश आता है कि ऐसा हुआ। जैसे क्रोध और प्रेम जकड़ लेता है। उसी तरह काम भी जकड़ लेता है। हमारा उस पर कोई वश नहीं होता। इस पकड़ में हम अनुपस्थित होते हैं।

जीवन की एक–एक घटना का सूक्ष्म निरीक्षण करेगें तो स्पष्ट होता जाएगा। अंहकार करने लायक हमारे पास कुछ भी नहीं है। शरीर भी 'पर' है। मैं और

मेरा मात्र भ्रम है। "मैं" केवल मेरा का जोड़ है। मेरा खत्म कर दो। मैं अपने आप विलीन हो जाएगा।

तो महत्वपूर्ण है कि हम अंधे को किसी प्रश्न का उत्तर देने के स्थान पर उसे वह दृष्टि दे सके, जिससे वह अपने उत्तर स्वयं ढूंढ सके तो यह उस पर अनुग्रह होगा।

लोग कहते हैं, महावीर ने महल छोडा, हीरे जवाहरात छोड़े, करोड़ों की दौलत त्याग दी। पागल है वे लोग। महावीर ने कुछ त्यागा नहीं, छूट गया। अंतर है दोनों शब्दों में। हमें जब तक स्वर्ण, सोना नजर आता है, तो त्यागना हुआ। अगर मिटटी नजर आता है तो त्याग की कोई बात नही अपने आप छूट जाएगा। महावीर को यह दिखाई पडता है कि यह मिट्टी है। हमें संपत्ति दिखाई पडती है। हम अपने घर में से रोज कूडा करकट फैंकतें हैं। महावीर के लिए वह कूडा करकट ही है। यह आत्मानुभव का दर्शन है। जिसका फल सम्यक् ज्ञान है। अपरिग्रह अपने आप आ जाता है। अहिंसा, ब्रह्मचर्य अपने आप फलित होने लगते हैं।

बगैर आत्मदर्शन, सम्यक् ज्ञान के त्याग भी अंहकार बन जाता है। वह पहले से अधिक खतरनाक हो जाता है। त्यागी को हमेशा याद रहता है। मैंने घर छोडा, परिवार छोडा, संपत्ति छोडी। अंहकार वेश बदलकर नए आयाम में आ गया। अभी संपत्ति का अंहकार था, अब त्याग का अंहकार है। और अधिक मुश्किल हो जाएगी।

दमन की शिक्षा, रूग्ण शिक्षा है। काम, क्रोध, लोभ कोई भी वासना दमन से समाप्त नही होती, वेश बदलकर ऐसे रूपों में आ जाती है जिसे पहचानना मुश्किल हो जाता है। जो बाहर नहीं निकल पाता वह अंदर ही अंदर रूप बदलकर चलता रहता है। अगर सम्यक्ज्ञान हो, तो अंदर बाहर सब जगह से मुक्त हुआ जा सकता है।

तो सम्यक् दर्शन के उपरांत ही सम्यक् आचार को समझाया जा सकता है। जबरन थोपे गए आचार, आत्मविकास के मार्ग को भ्रमित कर देते हैं। अंहकार और गहन हो उठता है।

(ग) <u>आत्मदर्शन के उपाय–</u>

आत्मदर्शन में बंधन क्या है? बाह्य संसार ही बंधन है, मैं की दीवार है, वही बंधन है। हमने चित्त पर इतने प्रभाव इकट्ठे कर लिए है कि उनकी परतों ने आत्मा को पूरी तरह ढक लिया है।

जमीन के नीचे पानी की जलधारा हमेशा उपलब्ध होती है। बस हमें मिट्टी की परतें हटानी पडती है और कुओं में पानी प्रकट हो जाता है।

जैन शास्त्र इन्हें कर्मों की परत कहते हैं। इन परतों को तोडने को महावीर ने निर्जरा कहा है। किसी व्यक्ति से उसके बारे में पूछा जाए तो वह अपना नाम पद धर्म पता आदि बताएगा । ये उसकी परते हैं। ये सब हटा लिया जाए वह तब भी रहेगा। यदि मनुष्य परतों को हटाकर पीछे बढता जाए तो वहाँ पहुँच सकता है जहाँ पर शुद्ध वही रह जाता है।

बाह्य संसार क्या है? मनुष्य अपने इन्द्रिय ज्ञान से जो भी जानता है वही उसका बाह्य संसार है। वह आँख से सबको देखता है। शरीर से स्पर्श करता है। कानो से सुनता है। परन्तु ये सारी क्रियाएँ बाहर के लिए बाह्य संसार की है। हम इंद्रियों से स्वयं को नहीं देख सुन सकते। इंद्रियों का ज्ञान सुख–दुःख का ज्ञान है।

इंद्रियों का हर द्वार बाहर की और खुलता है। अगर अंदर जाना हो तो अपने पगों को पीछे ले जाना होगा। अर्थात इंद्रियों की बाह्य गति को अक्रियात्मक अवस्था में ले जाना होगा। इसे ध्यान की अवस्था भी कहा जाता है।

एक व्यक्ति के परिजन दुर्घटना में घायल होकर अस्पताल पहुँच गए हैं। पीछे वह व्यक्ति रास्ते में भागता हुआ अस्पताल जा रहा है और आप रास्ते में मिल जाएं तो आप उसे दिखाई थोडे ही पडेगें क्योंकि उसका पूरा चित्त तो अस्पताल में है। अगर उससे पूछा जाए रास्ते में कौन–कौन मिला तो वह कुछ भी न बता सकेगा क्योंकि देखने वाला अनुपस्थित था तो आँख नही देखती। देखने वाला तो अंदर है। कान भी नही सुनते क्योंकि सुनने वाला भी अंदर है।

अगर आँख और कान देखना, सुनना बंद कर दें तो अंदर की शक्ति अकेली हो जाएगी। समस्त इंद्रियों को बाहर से बंद कर लेना ही निर्जरा है, योग है। ये जो पांच इंद्रियाँ हैं उसके पीछे हमारा मन है। वह सारे प्रभावों को इक्ट्ठा करता है। यही प्रभाव पर्त के रूप में इकटठे होते रहते हैं। पर्त मोटी होती जाती है। चेतना उतनी ही गहरी उतरती जाती है।

हम हर पल प्रभाव को इकटठा कर रहे हैं। अतीत के प्रभाव, वर्तमान के प्रभाव। अतीत तो बीता हुआ कल है। मगर कल जिससे झगडा हुआ था उसके प्रति बैर आज भी कायम है, दुर्भाव बना हुआ है। जो कल बीत गया, मुर्दा हो गया, वे मुर्दा कल हमारी छाती पर आज भी सवार हैं। यह बोझ बंधन है।

पहला काम है अतीत से मुक्ति अतीत की निर्जरा। दूसरी बात आगे से हमें कोई भी प्रभाव संगृहीत नहीं करना है, न अच्छा, न बुरा। शुभ–अशुभ दोनों ही बंधन है। वीतराग तटस्थ स्थिति है।

भीतर कोई संस्कार, कोई वासना जन्म लेती है, हमें उससे प्रभावित नहीं

होना है। अप्रभावित रहना है। उस वासना में हम सम्मिलित न हो केवल तटस्थ दृष्टा बन जाए केवल साक्षी भाव उठता हो। कोई उद्यम, कोई जतन न करें सिर्फ इस भाँति उठता हुआ देखें जैसे यह घ्टना किसी अन्य पर घटित हो रही हो। आप किसी राग, विराग के माध्यम से पकड में न आएं। बस यहीं पर उसका विसर्जन हो जाएगा। धीरे–धीरे नई पर्तों का बनना बंद हो जाएगा और पुरानी पर्तें विसर्जित होती जाएगी।

तो आत्म दर्शन ही एक मात्र उपाय है। केवल तटस्थ दृष्टा बनना है। अपने अंदर मन में उठ रहे प्रत्येक विचार को साक्षी भाव से देखते रहें। हर पल सावधान रहकर, सतत रह कर, किसी भी पल चूक न हो । सिर्फ एक ही कार्य, उठते–बैठते, चलते–फिरते, प्रतिपल जागरूक रहकर, होश से भरे हुए विचारों को सिर्फ देखते रहे, कोई सहयोग न करें। यही योग है, यही निर्जरा है, यही एक मात्र सूत्र है।

तटस्थ हो जाने के बाद व्यक्ति शनैः–शनैः अंतरतम में उतरता है और आत्मसत्ता से संयुक्त हो जाता है जिसे समस्त जागृतों ने सत्य कहा है।

कर्म सिद्धांत का वैज्ञानिक विवेचन

डॉ. संजीव सराफ व डॉ. अजित जैन

भारतीय दर्शनों में, "जैसा कर्म वैसा फल" सिद्धांत की मान्यता हैं। महाभारत में कहा गया हैं 'जिस प्रकार गाय का बछड़ा हजारों गौओ में भी अपनी मां को ढूंढ लेता है, उसका अनुसरण करता है, उसी प्रकार पूर्व कृत कर्म उसके कर्ता का अनुसरण करते हैं तथा दूसरी योनि में आपके किए हुए कर्म परछाई के समान साथ–साथ चलते हैं।' भगवान बुद्ध ने कहा था "जो जैसा बीज बोता है, वह वैसा ही फल पाता है।" भगवान महावीर ने कहा था "किया हुआ कर्म सदा अपने कर्त्ता का अनुगमन करता है। अच्छे कर्मों के फल अच्छे और बुरे कर्मों के फल बुरे होते हैं।"

जैन मान्यता के अनुसार यह आत्मा, यह जीव या प्राणी चेतना की एक पृथक इकाई है यह किसी का अवयव या खण्ड नहीं हैं। हर आत्मा अपनी स्वतंत्र सत्ता रखने वाली परिणमनशील इकाई हैं और अनादिकाल से ही विकारी दशा में संसार में भ्रमण कर रही है। उसके विकार का हिसाब रखने वाला स्वयं उसका शरीर ही है। उसके लिए अन्य किसी नियंता की आवश्यकता नहीं होती। ये शरीर जड़ है और मैं चेतना तत्व होकर भी इसके बंधन में जकड़ा हुआ हूँ, इसका कारण मेरा अनादि का अज्ञान या मेरे राग–द्वेष आदि विकार हैं जो अनादि से ही मेरे साथ लगे हुए हैं। यह भी यथार्थ है कि यदि मैंने कोई कारगर उपाय न किया तो ये शरीर मुझे अनंत काल तक इसी प्रकार जकड़े रहेगा। जब तक मैं इनका नाश नहीं करूंगा तब तक मैं स्वतंत्र या शुद्ध नहीं हो सकूंगा।

जैन कर्म–सिद्धांत वैज्ञानिक मान्यताओं तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर खरा उतरता है। जैन कर्म–सिद्धांत मानव के व्यावहारिक जीवन के लिए परमोपयोगी है। केवल कल्पना के स्वप्निल आकाश में उड़ान भरने की अपेक्षा, मानव–मन की जटिलताओं, ग्रंथियों और गहन प्रश्नों का जैन मनीषियों ने कर्म सिद्धांत के माध्यम से यथार्थता के आधार पर क्रियात्मक समाधान प्रस्तुत किया है।

मनोविज्ञान व जीव विज्ञान विवेचना :–

कर्म की विचित्रता का मनोवैज्ञानिक सिद्धांत भिन्नता का नियम से तुलना करने पर पाते हैं कि वंशानुक्रमीयगुण (Heredity traits) के वाहक बीजकोष (Germ plasm) हुआ करते हैं। ये बीज अनेक रेशों से बने होते हैं। इन रेशों को क्रोमोसोम्स (Chromosomes) कहते हैं।

एक बीजकोष में अनेक वंश सूत्र पाये जाते हैं। इन वंश सूत्रों के और भी अनेक सूक्ष्म भाग होते हैं, जिन्हें जीन्स कहते है। वास्तव में ये जीन्स ही विभिन्न गुण दोषों के वाहक होते हैं।

जीव विज्ञान के अनुसार प्रत्येक भ्रूणकोष में 23 पिता के साथ 23 माता के वंश सूत्रों का समागम होता है। वैज्ञानिको का अनुमान है कि इनके संयोग से 16,77,216 प्रकार की विभिन्न संभावनाएं अपेक्षित है। अभी तक विज्ञान केवल जीन्स तक ही पहुंच पाया है। जीन्स इस स्थूल शरीर का ही घटक है किन्तु कर्म सूक्ष्म शरीर का घटक है।

प्रकृति संक्रमण का सिद्धांत भी जैन कर्मवाद की विशेषता है। जैसे वनस्पति विज्ञान विशेषज्ञ खट्टे फलों की मीठे फलों में तथा निम्न जाति के बीजों को उन्नत जाति के बीजों में परिवर्तित कर देते हैं, वैसे ही पाप के बद्ध कर्म परमाणु कालान्तर में तप आदि के द्वारा पुण्य के परमाणु के रूप में परिवर्तित हो जाते है। कर्म मुक्त होकर जीवन आत्मा से परमात्मा बन सकता है।

जैन सिद्धांत में कर्म की व्याख्या उस वर्गणा रूपी घिराव से है जिससे आत्म तत्व अनुबंधित हो जाता है। अतः कर्म यानि कार्माण वर्गणाएँ जिनका "आस्रव और बंध" हुआ तथा जो जाते–जाते अपने–अपने उदय समय पर कर्मफल दिखा कर ही जायेगी। जीवित शरीर स्वयं इन कर्मों का ही पिंड है।

आज हम तो यही मानते और जानते है कि वह डिम्ब और शुक्राणु जो संयोग कर भ्रूण में फलित होते है अपने रासायनिक अवयव, क्रोमेसोमल" (प्रोटीन वर्गणाएँ) तत्वों के कारण जीन्स पर आधारित भ्रूण की संवर्धना (शरीर) व्यक्तित्व लिंग और पर्याप्तियाँ हेतु कारण होते है। किन्तु उसके उस संयोग को किसने बाधित अथवा सहयोग किया, किसने उस पर्याय को चुना, किसने जीवन में सुख–दुख, उपलब्धियाँ और ज्ञान दिया इसकी ओर विज्ञान मौन रह जाता हैं। अत्यंत प्रबुद्ध माता–पिता की संतान भी कभी विक्षिप्त और कभी ज्ञानहीन क्यों रहती है? इसके सही–सही उत्तर हम जानते हुए भी नहीं जानते हैं, बायोटिक्नॉलाजिस्ट भी नही जानते। जैन आचार्यो ने इन सब बातों को वर्गणाओं का खेल बतलाया है जो आत्मा

के ऊपर हजारों कार्माण वर्गणाओं के कारण ही होता है।

रसायन विज्ञान विवेचना :–

रसायन विज्ञान की तरह जैन विज्ञान भी सम्पूर्ण विश्व को वर्गणाओं (Molecular Aggregates) से भरा मानता है। यह पौद्गालिक होती है। ये हवा जिसे हम पंखे से अनुभव करते हैं, यह गर्मी–सर्दी–नमी, धूल, प्रकाश, खुशबू–बदबू सभी पुदगल की भिन्न–भिन्न वर्गणांए हैं।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में तत्व (Matter) के सूक्ष्मतम अविभाजीय कण को अणु तथा पदार्थ के सूक्ष्मतम अविभाजीय कण को परमाणु कहा गया है, जो अपने मूल पदार्थ से सम्पूर्ण गुण–साम्य रखता हैं। हालांकि आज का विदित अणु भी इलेक्ट्रान, प्रोटॉन, न्यूट्रिनो, फोटॉन, अल्फा–बीटा–गामा किरणों में बंटकर बिखर सकता है और परमाणु टूटकर अणुओं में बंट जाता हैं। यथा पानी का परमाणु तीन अणुओं से मिलकर, जिनमें 2 अणु Hydrogen और 1 अणु Oxygen के हैं, रासायनिक संयोग से बना है। भौतिक संयोग इसका निर्माण नहीं कर सकता। 1 अणु Oxygen या 2 अणु Hydrogen भी जबकि वातावरण में स्वयंमेव पारस्परिक पहचान द्वारा रासायनिक संयोग स्थापित कर अपना–अपना वायु परमाणु बना लेते है और अलग–अलग स्वतंत्र अस्तित्व भी रखते है अन्यथा इनकी वातावरण में घोर कमी आ जाती। इन प्रत्येक परमाणुओं को जैन दृष्टि से वर्गणा माना जायेगा। स्थिरता पाना इस पुदगल द्रव्य का मूल लक्ष्य है। यही प्रकृति का सिद्धांत है और यही जीव द्रव्य का भी।

जैन विज्ञान अणु और परमाणु में भेद नहीं मानता क्योंकि अणु अथवा परमाणु किसी भी विभागीय द्रव्य के सूक्ष्मतम अविभाजीय अंश माने गये हैं। इस प्रकार जैन परिभाषित अणु/परमाणु, विज्ञान परिभाषित अणु से बहुत–बहुत सूक्ष्म है। वह वर्गणा नहीं इकाई है। अनेक समान स्वभावी अणु मिलकर वर्गणा बनाते हैं तथा वायु वर्गणाएँ, द्रव वर्गणाएँ–वर्गणाएँ स्कंध बनाती है। स्कंधों में अनंत अणु भी हो सकते हैं। आकाश ऐसा ही एक स्कंध है जिसमें अनंतानंत प्रदेश है। संघात तथा भेद से अणु उत्पन्न होते है।

आचार्य उमास्वामी में तत्वार्थसूत्र में लिखा है–

अणवः स्कंधाश्च। भेद सङ्घणतेभ्य उत्पद्यन्ते। भेदादणुः। भेद संघाताभ्यां चाक्षुषः। वर्गणाएँ मिलकर किसी भी दृष्ट/अदृष्ट पुदगलों का निर्माण करती है।

आयुर्वेद विज्ञान विवेचनाः–

भारतीय चिकित्सा पद्धति (आयुर्वेद) प्रारंभ से ही वर्गणाओं के नियंत्रण के ऊपर आधारित थी। शरीर के अंदर आहार द्वारा ली गई वर्गणाएं ऊर्जा उत्पादन के साथ–साथ कुछ तो शरीर द्वारा ही निर्माण हेतु उपयोग कर ली जाती है। कुछ मल बन कर फिक जाती है। यदि ये वर्गणाएं ना फिंकी तो वे तरह–तरह के विकार शरीर के अंदर अपने वहां छिड़ने से दर्शाती है। इसे आयुर्वेद में त्रिदोष के नाम से जाना जाता है। जो वात, पित्त और कफ कहलाता है। ये तीन प्रकार के लक्षण पैदा करने वाली वर्गणाएं है। आहार वर्गणाओं के साथ हमारे ज्ञान–अज्ञान वश अनेकों उपयोगी, अनुपयोगी तथा विषैली वर्गणाएं भी शरीर में सहज प्रवेश पा लेती है। इनका प्रभाव शरीर तथा मन दोनों पर पड़ता ही हैं। इसी कारण भारत में सदैव से "जैसा खाओं अन्न, वैसा होवे मन" कहकर आहार विशुद्धि पर ध्यान दिया गया है। जैन मान्यतानुसार संतुलित, संयमित विशुद्ध आहार से भावों द्वारा सम्यकदृष्टि जीव के अंदर "Super Power" रिद्धियां–सिद्धियां भी पैदा हो जाती है।

भौतिक विज्ञान विवेचना :–

कर्मो का बंधन आठ कर्मो में से (अर्थात् कर्मों की प्रकृति) केवल सात कर्मो में ही निरंतर विभाजित होता है, क्योंकि आठवें कर्म–आयु का बंध तो जीवन में केवल एक बार ही पड़ता है। भौतिकी के एक सिद्धांत के अनुसार जब कोई प्रकाश किरण कांच के प्रिज्म से गुजरती है तो वर्णपट पर ये किरण विभिन्न रंगों में बिखर जाती हैं, ठीक उसी प्रकार कर्मोदय काल में भी सातों कर्मो में विभाजन हो जाता हैं।

भौतिकी के एक और सिद्धांत (रमन प्रभाव) के अनुसार जब कोई किरण पुंज किसी पदार्थ से गुजरती है तो किरण के छितराव होने पर उसमें विशेष प्रकार का परिवर्तन होता है और पदार्थ के अणुओं की संरचना के आधार पर उसके वर्णपट पर एक नये रंग की रेखा दृष्टिगोचर होती है। ऐसी ही स्थिति कर्मो की भी होती है।

गणितीय विवेचनाः–

वर्द्धमान महावीर युग से अखिल विश्व में एक अद्भूत गणितीय क्रान्ति देखने में आती है जिसने विश्व के विज्ञान को एक नये प्रकाशमय परिवर्तन सहित उदित होने का अवसर प्रदान किया। परिवर्तन की यह प्रक्रिया वीतराग विज्ञान को कर्म सिद्धान्त विषयक पुद्गल विज्ञान के उच्चतम शिखर तक ले जाने हेतु सक्षम बना गयी। यह तथ्य गोम्मटसार लब्धिसार आदि ग्रंथों की बड़ी टीकाओं (कर्नाटक वृत्ति, जीव तत्व प्रदीपिका, सम्यक्ज्ञान चंद्रिका टीका) में समाहित गणितीय प्रक्रियाओं से

अनुमानित किया जा सकता है। आत्मा का निर्मल, शृंखला–अभिक्रिया युक्त, परिणाम पुंज इतना सशक्त होता है कि इसका निमित्त पाकर ध्यानावस्था में पौद्गलिक कर्म पारस्परिक प्रक्रियाएँ निर्जरादि हेतु चलने लगती है।

कर्म सिद्धान्त गणितमय तो है ही जहां पर हर वस्तु का प्रमाण उपमा एवं संख्या द्वारा निश्चित किया गया है। दिगम्बर जैन ग्रंथो संदृष्टिमय गणित अलौकिक तो था किन्तु उसकी तकनीकी विधियाँ जानकारों द्वारा लौकिक रूप में भी प्रकट होती चली गयी होगी। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (दसवी ग्यारहवी सदी में) के माध्यम से जब यह गणित माधवचंद त्रैविद्य एवं केशव वर्णी की कृतियों द्वारा गृहस्थों के पास पहुंचा तो उस समय से एक नई क्रांति का पुनः उदय हुआ। संभवतः उस समय आचार्य कुन्दकुन्द के समय का गणित जिसका रहस्यमय कर्म सिद्धान्त में प्रयोग हुआ था अरब से यूरोप एवं चीन आदि तक छाया और इस बिखरे ज्ञानांश को वहां के वैज्ञानिक नजर–अंदाज न कर सके होंगें। उन्होने बीजगणित के समीकरणों और प्रयोगों के सहारे धीरे–धीरे भौतिक रसायन शास्त्र के सिद्धान्तों की रचना प्रारम्भ कर दी होगी। जहां दिगम्बर मुनियों का प्रायोगिक दृष्टिकोण आध्यात्मिक था जिसमें प्रतीक बद्ध गणित ने भरपूर भाग लिया, वहां यूरोपीय वैज्ञानिकों का दृष्टिकोण मात्र भौतिक था। वही जैन कर्म विज्ञान परम्परा में परमाणु प्रकृति, स्थिति के भेद, उनके कर्मानुभाग, स्पर्श के अंशआदि की विस्तृत सामग्री मौजूद थीं।

इस प्रकार हम कह सकते है कि पूर्वबद्ध कर्मो की उपस्थिति में जीव के रागादिक परिणमन होता है, इस कारण जीव अपने पूर्ण चैतन्य गुण को प्रकाशित नहीं कर पाता है।

सारे घातिया कर्म नष्ट हो जाने पर रागादिक भाव नष्ट हो जाते है। तथा पूर्ण वीतरागता प्रकट हो जाती है। यदि बद्धकर्म बहुत अधिक हैं तो रागादिक भाव भी बहुत होगा तथा चैतन्यगुण तथा वीतरागता प्रकट नहीं हो पायेगी। पूर्वबद्ध कर्मो का निमित्त से जीव के रागादिक परिणाम और इन परिणामों के निमित्त से नये कर्मो का बंध होता ही रहता है। जिस प्रकार से पानी के प्रवाह को रसायनों द्वारा रोका जा सकता है उसी प्रकार से कर्मो की इस शृंखला को सतत् पुरूषार्थ द्वारा तोड़ा जा सकता है।

संचित पापकर्मों को अच्छे पुरूषार्थ से पुण्य में बदला जा सकता है। वर्तमान का पुरूषार्थ, पुरूषार्थ कहलाता हैं। और अतीत का पुरूषार्थ कर्म कहलाता है। पुरूषार्थ के द्वारा व्यक्ति अपनी जन्म कुण्डली को भी बदल सकता है। अतः हम अपना पुरूषार्थ जगायें।

कर्म सिद्धांत का वैज्ञानिक एवं गणितीय विवेचन

डॉ. मुकेश जैन व डॉ. प्रो.एल.सी.जैन

दिगम्बर जैनागम में सम्पूर्ण कर्म सिद्धान्त विज्ञान एवं गणित से ओतप्रोत है, यही कारण है कि कर्म रहस्य वैज्ञानिक बन पड़ा है। बीज, संख्या एवं आकृति द्वारा गणितीय विकास हजारों वर्ष तक चला किन्तु एक अद्भुत क्रांति भगवान महावीर और उसके बाद महात्मा गांधी के युग में दृष्टिगत हुई जिसे 20 वीं सदी कह सकते है।

आचार्य पुष्पदंत एवं भूतबलि द्वारा सर्वप्रथम लिपिबद्ध ग्रंथ षट्खण्डागम में गुण स्थान एवं मार्गणाओं के माध्यम से जीवन तत्व की विशद चर्चा है जिसमें सम्पूर्ण जगत् के जीवों के निवास की जानकारी तथा उनकी रक्षा का उपदेश देकर अहिंसा के माध्यम से पर्यावरण को पूर्ण सुरक्षित रखने का उपाय बताया गया है। जल गालन आदि करके, जलकायिक जीवों की रक्षा द्वारा जल प्रदूषण से बचने की चर्चा लगभग 2000 वर्ष पूर्व इस ग्रंथ में की जा चुकी है।

आचार्य गणधर ने पहली सदी में कषाय पाहुड की रचना की। जिसकी जय धवला टीका 16 भागों में मथुरा में प्रकाशित है। इसमें मोह कर्म के निमित्त से होने वाली अवस्थाओं का विशेष वर्णन है। जो विवेकी अपने विभाव परिणाम, राग, द्वेष, मोह, क्रोधादि कषायों पर नियंत्रण कर लेता है, हो सकता है कि उसकी ग्रंथियों से इस तरह के हारमोन्स स्रावित होने लगे कि वह सहज ही शौर्य, बल, विक्रम एवं परम् स्वास्थ्य को प्राप्त कर लें। कारण, कर्म क्षय से जीव पुण्यवान् हो जाता है और पुण्य की प्राप्ति होते ही इस तरह के गुणों की प्राप्ति स्वाभाविक है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ति ने ही "लब्धिसार" एवं "क्षपणासार" जैसे महान ग्रंथों का सृजन किया। लब्धिसार में सम्यक्दर्शन एवं उसकी प्राप्ति में सहायक पांच लब्धियों का महत्वपूर्ण वर्णन है। जैसे नाभिकीय विखण्डन का क्रम विज्ञान में उपलब्ध होता है। नाभि से इलेक्ट्रान युक्त अणु के विखण्डन में प्रोटॉन और न्यूट्रान की तरह मिथ्यात्व, सम्यक्–मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन तीन टुकडों में मिथ्यात्व द्रव्य को खंडितकर जीव अंततः सम्यक्त्व कों प्राप्त करता है। क्षपणासार में कर्मों के क्षपण का अंकगणितीय, बीज गणितीय एवं रेखा गणितीय संदृष्टि पूर्ण चित्रण है।

जैन कर्म साहित्य के विकास का इतिहास प्रथम शताब्दी से प्रारंभ होकर वर्तमानकाल तक आता हैं। दिगम्बर जैन कर्म साहित्य में जहाँ भी हम वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य पर विचार करते हैं। वहां गणितीय पक्ष की ही प्रधानता है। गणित के बिना विज्ञान आगे नहीं बढ़ सकता है। गणित के परिणाम अकाट्य होते हैं। 2+2=4, तो 4 ही होंगे। 5 अथवा 3 कभी नहीं। प्रायः ऐसा होता है कि गणितज्ञ दिन प्रतिदिन के कतिपय निरीक्षणों से निष्कर्ष निकलता है और उन निष्कर्षो के आधार पर भव्य एवं सुन्दर आकारों को गढ़ता है, उनको संजोता है। इन भव्य आकारों की ओर प्रयोगकर्ता आकृष्ट होता है। वस्तुतः वह व्यक्ति सुखी है जो एक साथ गणितज्ञ और प्रयोगकर्ता दोनों है।

आइन्सटीन ने भी कहा है, सभी अन्य विज्ञानों से ऊपर गणित को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त होने का एक कारण यह भी है कि जहाँ उसकी प्रतिज्ञप्तियाँ यथार्थ रूप से निश्चित एवं विवाद रहित होती है, वहीं अन्य विज्ञानों की कुछ सीमा तक विवादास्पद होती है तथा नये आविष्कृत तथ्यों द्वारा निरस्त किये जाने के सतत् संकट में होती है। गणित के उच्च सम्मान का दूसरा कारण यह है कि गणित के द्वारा शुद्ध प्राकृतिक विज्ञानों में जिस किसी सीमा तक जो निश्चितता प्रविष्ट हुई पाई जाती है वह गणित के बिना उपलब्ध नहीं हो सकती थी।

साधारणतः वैज्ञानिक क्रान्ति के पूर्व विश्व की समस्त सभ्यताओं में जो धर्म प्रचलित थे वे भय और प्रलोभन के द्वारा समाज को धर्म के नाम पर अनुशासित किया करते थे। किन्तु जब युनान में थेलीज और पैथोगोरस (ई.पू. छठी सदी) भारत में महावीर एवं बुद्ध तथा चीन में कन्फ्यूशन्स जैसे दार्शनिक विचारकों ने जन्म लिया तो प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने हेतु एक बहुत बड़ी क्रान्ति हुई जिसमें जैन धर्म ने भी अहम भूमिका निभाई। डॉ. दयानन्द भार्गव "आधुनिक संदर्भ के पूनर्मूल्यांकन की दिशायें" नामक अपने लेख में कहते हैं।

"आधुनिक काल मे जैनागमो में उपलब्ध भौतिकी, रसायनशास्त्र, तथा गणित संबंधी मान्यताओं का विवरण देकर जैनागमों कों प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है। जैनागम में भौतिक विज्ञान के संबंध में कुछ तथ्य मिलते हैं। इसमें किसी को मतभेद नहीं है। किन्तु यदि हम उन तथ्यों को इस रूप मे रखें कि मानों आधुनिक काल के विज्ञान की समस्त उपलब्धि जैनागम में पहले से ही प्राप्त थी तो यह विचारणीय बात है। विज्ञान का अपना इतिहास है, उस इतिहास में विज्ञान का निरन्तर विकास हुआ है। जैनागमों में उस समय की अपेक्षा से कुछ वैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन हुआ। यह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व का है। किन्तु इस तथ्य को

अपनी आँखो से ओझल नहीं किया जा सकता कि आज हम विज्ञान के क्षेत्र में जैनागमों के काल की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ चुके हैं। और इस बात में कोई परेशानी नहीं होनी चाहिये कि जैनागम की कोई बात आज के विज्ञान से मिथ्या सिद्ध हो जाये।"

प्रसंग जैन धर्म के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य का है न कि सम्पूर्ण जैन धर्म के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य का ये दोनों एक दूसरे के साथ एक ओर साम्यता रखते है तो कुछ बिन्दुओं पर वैषम्य। कहीं कहीं पौराणिक कपोल कल्पनाओं के दर्शन भी संभव है। हमें उन्हीं स्थलों से प्रयोजन है जो हमारे आचार विचार अथवा लोक अलोक से संबंधित है न कि कथा कहानियों से।

जैसे आज का विज्ञान विगत दो तीन सौ वर्षों में ही वैज्ञानिक प्रयोगों के माध्यम से नाभिकीय शक्ति के स्फोट तक पहुँच गया, जहाँ नाभिकों को ही विखंडित कर दिया गया तथा एक तत्व को दूसरे तत्व में बदल दिया गया। यह तभी संभव था जब कि उन्हें इस बात का ज्ञान होता कि किसी तत्व की नाभि कैसे तोड़ी जाये। आज के वैज्ञानिकों ने यह कर दिखाया। इसका सादृश्य जैन दर्शन में मिथ्यात्व द्रव्य का विखण्डन और उसके मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति रूप तीन टुकडों की घटना में उपलब्ध है। यह प्रक्रिया सम्यक् दर्शन की प्राप्ति कराने में कारण थी।

करणानुयोग में अपेक्षित सामग्रीः

1. करण का अर्थ परिणाम है। अर्थात् परिणामों का वर्णन करने वाला तथा कर्म प्रक्रिया का कथन करने वाला भी करणानुयोग ही है। इसमें कर्म के सत्वका स्थिति रचना यंत्र के द्वारा वैज्ञानिक स्वरूप वर्णित है। इस यंत्र के माध्यम से यह बताया गया हैं। कि इस जीव ने अनादि से विगत में जो कर्म किये हैं, उनके कारण हुये कर्म बंधका संचय किस रूप में होता है। इस संचय में कर्म के परमाणु विशेष रूप से निर्मित निषेकों के समूह के रूप में रहते हैं।
2. मन वचन काय योग के आधार पर निर्मित कर्म परमाणुओं का समूह निषेक कहलाता है। ऐसे निषेक असंख्यात प्रकार के हुआ करते हैं जिनकी श्रृंखला वर्गणा, स्पर्धक और गुण–हानि के रूप में व्यवस्थित रहती हैं। इनका विभाजन चार प्रकार के कर्म बंध के आधार पर होता है। योग, प्रकृति एवं प्रदेश बंध में कारण है तथा कषाय, स्थिति और अनुभाग बंध में।
3. जितने प्रदेश अथवा कर्म परमाणु उस विशिष्ट योग से आस्रवित होते हैं वे एक समय पर्यन्त रूकते हैं। लेकिन यदि योग के साथ–साथ कषाय भी हो तो

सागरों पर्यन्त आत्म प्रदेशों से संलग्न रहे आते हैं। कषाय न केवल स्थिति में कारण है अपितु फलदान की शक्ति रूप अनुभाग भी रागद्वेष के कारण ही होता है, जो अनेक प्रकार के शक्त्यंश के रूप में पाये जाते हैं।

4. गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणास्थान एवं उपयोग इन प्ररूपणाओं का विशद वैज्ञानिक विवेचन गोम्मटसारादि ग्रंथों में दृष्टव्य है। जगत के जीवों का अंकों में प्रमाण दिया गया है। न केवल सम्पूर्ण जीवन राशि का सामान्य प्रमाण, अपितु किस गति में, किस गुणस्थान में कितने जीव है, इसका भी स्पष्ट प्रमाण है। जीव किस स्थान पर निवास करते हैं। इस बात की जब तक जानकारी न होगी, जीव रक्षा संभव नहीं हैं, जैसे जमीकन्द आदि में असंख्य जीव राशि होती है। क्योंकि भूमि के अन्दर सूर्य का प्रकाश नहीं पहुंच पाता, जिससे जीवों की वृद्धि शीघ्र होती है, साथ ही भूमि के अन्दर उत्पन्न होने वाली वस्तुओं में पृथ्वी तत्व अधिक पाया जाता है जो स्वास्थ्य–हानि में कारण है एवं तामसिकता को बढ़ाता है।

भव्य जीव ही विशुद्धि के उच्चतम स्तर पर मिथ्यात्व के मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति रूप तीन टुकड़े करता है, कर्म परमाणुओं का द्रव्य एवं शक्ति अपना अपना प्रमाण लिये हुये सत्व में होती है, जिसका प्रमाण एम1, एम2, एम3 तथा ई1, ई2, ई3 के रूप में बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से लब्धिसार में वर्णित है। वस्तुतः भव्य जीव ही अधःकरण, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण रूप तीन करण करता हुआ उसकी समाप्ति पर जो कि प्रगाढ़ प्रबलतम भागों की गणितीय रूप में चलने वाली एक अनुपम धारा के रूप में है जो मिथ्यात्व के द्रव्य को तीन भागों में इस प्रकार विभाजित करता है कि उसका द्रव्य तीन भागों में वितरित हो जाता है।

इस प्रक्रिया द्वारा वह मिथ्यात्व नाभि का विभाजन करता है। यह परमाणु के नाभि विभाजन से सादृश्य रखता है क्योंकि यह द्रव्य भी तीन प्रकार का है। जो आधुनिक विज्ञान की यूरेनियम तत्व की नाभिको न्यूट्रॉन द्वारा तोड़कर विभिन्न प्रकार के द्रव्य और उनकी शक्तियों के रूप में विखंडित किया जाता है।

विशुद्धि के उच्च स्तर को प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार मंदयोग और मंदकषाय की ओर अग्रसर होना पड़ता है, जिस प्रकार अणु नाभि को तोड़ने हेतु स्निग्धत्व और रूक्षत्व (धनात्मक एवं ऋणात्मक आवेशों से) रहित न्यूट्रान की गति को नियंत्रित करना हेाता है।

मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्मा के परिणाम को गुण–स्थान कहते हैं। यह बात आगम में सर्वत्र वर्णित है कि किस गुण स्थान में कितनी प्रकृतियाँ

बन्ध, उदय और सत्व में रहती है तथा उत्कर्षण अपकर्षणादि विशेष प्रकार की बन्ध अवस्थाओं को प्राप्त होती है परन्तु यह ज्ञान रहस्यमय है कि इन गुणस्थानों की प्राप्ति कैसे होती है? प्रकृतियाँ कटती कैसे है ? प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्ध किस प्रकार विलय को प्राप्त होते हैं। मन तो प्रकृति को काट नहीं सकता क्योंकि यह एक योग, वचन और कार्य भी योग होने से कर्म काटने में नहीं बन्ध कराने में कारण हैं। कहा ही है – काय वाडमनःकर्म योगः। सः आस्रवः। विशुद्धि की धारा से कर्म प्रकृति काटी जा सकती है। विशुद्धि का परिणाम भव्यत्व और ज्ञान चेतना है। क्षमादि धर्म– भाव भव्यत्व है और ज्ञान चेतना बुद्धि है न कि मन। मन इन्द्रियों का संस्कार है, जो भ्रम में डालता हैं। संवेदनाओं को पकड़ने वाला और विकृति में जाने वाला है। बुद्धि ज्ञान चेतना है। केवल ज्ञानमय है, जीव जैसा है वैसा जीवको जानना ज्ञान चेतना है। जीव अनन्त दर्शन ज्ञान शक्ति से समन्वित है।

गुणस्थान एक नहीं अनेक हैं इसलिये मोह और योग के परिणाम अलग–अलग होंगे। यदि प्रथम गुणस्थान से आगे की श्रेणी चढ़ना है अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान में पहुंचना है तो वहां तक पहुंचाने वाला आत्मा का परिणाम कौन सा है? वह विशुद्धि करण के रूप में वर्णित है।

इन प्रकृतियों की निर्जरा तप से ही होती है। "इच्छा निरोधः तपः।" अतः अनशन आदि बाह्य तप और प्रायश्चित, स्वाध्याय, ध्यान, विनय आदि अन्तरंग तप से ज्ञानावरण प्रकृति का क्षय, क्षयोपशम देखा जाता है लेकिन जैन धर्म ने सर्वप्रथम समस्त प्रकृतियों के बीज भूत मिथ्यात्व प्रकृति को नष्ट करने का आव्हान किया है। मिथ्या दर्शन मात्र का क्षय करते ही शेष सारी प्रकृतियाँ अपने आप गुणस्थानों की वृद्धि के साथ कटती चली जाती है। इसके लिये प्रथम प्रयास विशुद्धि की मात्रा और शक्ति को बढ़ाने के लिये होता है। जैसे नदी में बाढ़ आने पर पानी की मात्रा तो बढ़ती ही है शक्ति भी बढ़ती चली जाती है। जिससे वह सब कुछ अपने प्रवाह में बहा ले जाती है। इसी तरह भव्य् जीव असंख्यात गुणी विशुद्धिकी मात्रा और अनन्त गुणी शक्ति तीन अन्तर्मुहूर्त तक बढ़ाते हुये सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। यही आत्मा की समृद्धि है। अक्षय निधि है जो अनेक भवों तक चलती चली जाती है। इस तरह सर्व प्रथम मिथ्यात्व प्रकृति को काटना प्रकृतियों के काटने का वैज्ञानिक क्रम है।

जैन धर्म के कर्म सिद्धान्त विषयक ग्रन्थ एक सैद्धान्तिक वैज्ञानिक प्रक्रिया को अपनाये हुये प्रतीत होते हैं। जिसका मूल प्रयोजन अशुद्ध तत्व को शुद्ध तत्व में परिणत करने के लिये तथा शाश्वत और अजर अमर बनाने के लिये, जीव के पारिणामिक आदि भावों को विशेष रूप से कर्म सिद्धान्त का आगे का अध्ययन का

विषय बनाया गया है।

जैनाचार में विज्ञान :–

कर्म सिद्धान्त में पौद्गलिक आधार लेकर जीव की प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के माध्यम से जीव की परिणति का कथन किया जाता है। किन्तु जैसे पृथ्वी के गुरूत्वाकर्षण क्षेत्र को पारकर चन्द्रमा के गुरूत्वाकर्षण क्षेत्र में पहुंचना या किसी यान का पहुंचाया जाना जिस वैज्ञानिक अध्ययन की वस्तु है उसी प्रकार जैन धर्म में सम्यक्–चारित्रका विलक्षण वैज्ञानिक स्वरूप है। जब जीव को सम्यक् अथवा वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त हो जाती है कि मोक्ष का वास्तविक स्वरूप क्या है? तो वह इस बात का समीचीन ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करने लगता है कि उसे कैसे प्राप्त किया जाये? प्रत्येक धर्म ऐसी जागृति का समर्थन करता है एवं इस तरह का प्रयास करता है, कि मुक्ति कैसे प्राप्त हो? यह विषय जैन धर्म में सम्यक्–चारित्र के रूप में वर्णित है, जो अनेक भेदों वाला कहा गया है। इन सभी प्रकार के भेदों में रहस्यमय ढंग से वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य दृष्टव्य है। सम्यक्– चारित्र का भी लक्ष्य जीवकों कर्म की प्रकृतियों तथा अन्य बन्ध की अवस्थाओं से धीरे–धीरे मुक्त कराके ऐसी अवस्था में ले जाना है जहाँ अन्ततः एक भी कर्म प्रकृति शेष नहीं रह जाती है, जिसका वर्णन गुण स्थानों की उपलब्धि के रूप में अथवा अन्य उपलब्धियों के रूप में गणितीय प्रमाणों के द्वारा लब्धिसार, कषायपाहुड़ जैसे ग्रंथ एवं उनकी टीकाओं में विशद रूप से विवेचित है। यद्यपि चारित्र का विशद वर्णन चरणानुयोग के ग्रंथों में ही मिलता है, जो विशेष रूप से "मूलाचार" "रत्नकरण्डश्रावकाचार" "भगवती आराधना" "पुरूषार्थ सिद्धयुपाय" "सागारधर्मामृत" "अनगार–धर्मामृत" एवं "वसुनंदि श्रावकाचार" आदि ग्रंथों में उपलब्ध है किन्तु इनका वैज्ञानिक अध्ययन विद्वानों के अध्ययन का विषय बनाया गया है। कारण, जिसे एक बार दृष्टि मिल जाती है, उसकी अन्तः प्रज्ञा इतनी प्रखर हो उठती है कि वह बिना वैज्ञानिक विश्लेषण किये ऊँचाइयों तक पहुंचने मे सक्षम हो जाता है। अतः चारित्र के इस स्वरूप का विश्लेषण जैनाचार्यों ने भावों की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं द्वारा अत्यन्त सूक्ष्मता से और गहराई से गणितीय अध्ययन का विषय बनाया है। चूंकि भाव एक क्षणवर्ती है, जबकि द्रव्य दृष्टि स्थायी है। अतः द्रव्यदृष्टि को धुरी बनाकर विशुद्ध परिणामों का लेखा जोखा किया जाता हैं जिससे यह ज्ञात किया जा सके कि जीव किस गुणस्थान पर टिका हुआ है? आगे बढ़ रहा है? अथवा पीछे हट रहा है? भावों की यह मापतौल बाजार में चढ़ने उतरने वाले भावों से कहीं अधिक जटिल गहन और दुस्तर है। जैसे भावों की तौल को समझकर व्यापारी उत्कृष्ट लाभ को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जीव अपने भावों को तौलते हुये परमपद

को प्राप्त हो जाता है।

जैन धर्म में गणित ज्योतिष, परमाणु एवं कर्म विषयक जो तंत्र प्रणालियाँ निर्मित की गई, वे अपने आपमें गणितमय तथा परिणाम देने में सक्षम रहीं। वेदांग ज्योतिष को विकसित करने का श्रेय भी उसे ही जाता है। साथ ही कर्म सिद्धान्त का सूक्ष्मतम अदृष्ट वस्तुओं की घटनाओं का गणितम विवेचन प्रयोग में न भी लाया गया हो किन्तु वह न्याय की गहन सामग्री बना है। अतः प्रणाली से जो संभावनायें अविभाजित होती है, उनका विज्ञान की विधि प्रणाली से तुलनात्मक अध्ययन समग्र रूप में होना ही सार्थक कहा जायेगा।

सर्वमान्य रूप से विज्ञान और धर्म विघटक नहीं संपूरक है। विज्ञान गति देता है। धर्म दिशा देता है। धर्म जीवन का प्रयोग और विज्ञान जीवन की प्रयोगशाला है। धर्म जीवन की बुनियाद है और विज्ञान इसका शिखर है। जीवन में गति न हो तो जड़ता छा जायेगी और दिशा न हो तो जीवन भटक जायेगा। अतः धर्म और विज्ञान दोनों का संतुलित समन्वय आवश्यक है। जैन धर्म में वीतराग–विज्ञान नामक वैज्ञानिक शब्द चुना गया है, जिसका अर्थ है हिंसा रहित विज्ञान, क्योंकि रागादि की उत्पत्ति को ही हिंसा कहा गया है। अतः अहिंसक धर्म को वीतराग–विज्ञान कहा जा सकता है।

जैन धर्म में जो दिगम्बर जैन साहित्य उपलब्ध है उसमें जीवों का उत्तरोत्तर विकास अथवा अधः पतन मार्गणा स्थानों में दिग्दर्शित किया गया है। इन स्थानों को गुणस्थानों की नियंत्रण सीमाओं में स्थान देकर नियंत्रण प्रणाली (गुणस्थान–पद्धति) स्थापित की गई है, जो कर्म सिद्धान्त का एक अध्याय मात्र है। एकेन्द्रिय सूक्ष्म जीव से लेकर पंचेन्द्रिय सूक्ष्म व बादर (स्थूल) जीवों को ऐसी कर्म बंध प्रणाली में विवेचित किया गया है जिसमें कर्म संबंधी प्रत्येक प्रकृति में गणितीय एक प्रमाण वाले कर्म परमाणु प्रदेश, उनकी शक्ति (अनुभाग) उनके रहने की अवधि (स्थिति) आदि व्यवस्थित धाराओं और श्रेणियों द्वारा वर्णित किये गये हैं। पुनः इस प्रणाली के बंध से मुक्त होने हेतु जिन पारिणामिक भावों को धाराओं में प्रतिक्रियात्मक रूप से सक्रिय किया जाता है वे भी गणितीय व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार कर्म बंध की प्रक्रिया – प्रणाली से मुक्त होने वाली प्रक्रिया–प्रणाली संभवतः योग (मन वचन काय) तथा कषाय से परे होने वाले, आत्मिक विशुद्धि को बढ़ाने वाले विलक्षण भावों से संबंधित होती है। जिनके एक रूप का नामकरण लब्धिगत भाव कहा जा सकता है। यह कर्म सिद्धान्त का सार रूप एक वैज्ञानिक स्वरूप कहा जा सकता है। ऐसी दिगम्बर जैन धर्म साहित्यकी स्रोत सामग्री में पायी जाने वाली विलक्षणता प्रायः यूनान

में मुख्यतः पैथोगोरस वर्ग में निम्न रूप में पायी जाती है।

यूनान में रहस्यमय उपायों द्वारा पैथोगोरस वर्ग ने भी हरी, सचित फल्लियों एवं पौधों का भक्षण करने का निषेध किया था। पिथेगोरियन वर्ग के विषय में प्लेटों का गणितीय प्रणाली का अध्यात्म में प्रयोग संबंधी कथन भी कुछ इसी तरह का है। इसी तरह चीन में भी इस प्रकार की सामग्री प्राप्त होती है।

कर्म सिद्धांत की वैज्ञानिकता

पं. निहालचंद जैन प्राचार्य

जीवन दोनों तरफ फैला है – बाहर भी, भीतर भी। बाहर की खोज विज्ञान है और भीतर की खोज अध्यात्म विज्ञान है। इसे वीतराग विज्ञान से भी संज्ञित किया जा सकता है। यदि बाहर का भौतिक विज्ञान दृश्य जीवन की जड़ है तो अध्यात्म विज्ञान उस जीवन का महकता फूल है। धर्म का मूल स्रोत अंर्तज्ञान–दृष्टि है और विज्ञान का मूल बुद्धि एवं तर्क पर टिका है। अर्न्तदृष्टि सर्वकालिक और शाश्वत होती है जबकि बुद्धि और तर्क कारणों एवं परिस्थितियों के बदल जाने से परिवर्तनशील है। विज्ञान प्रयोगों के निष्कर्ष पर टिका है जबकि धर्म अनुभूति पर। लेकिन दोनों का उद्‌गम चैतन्य आत्मा है।

जैसे वायुयान धरातल पर बनी हवाई पट्‌टी पर गतिशील होकर आकाश में ऊपर उठता है ऐसे ही जीवन का वायुयान विज्ञान की पट्‌टी पर गतिशील होकर धर्म के उन्मुक्त आकाश में ऊर्ध्वारोहण करता है। अतः स्वस्थ जीवन की दो आंखे हैं:–

1. विज्ञान
2. अध्यात्म विज्ञान

दोनों की समवेत रोशनी से ही समन्वय का दर्शन फलित होता है। इक्कीसवी सदी मे विज्ञान समृद्ध हुआ है और यह सुपर कम्प्यूटर की धुरी पर घूम रहा है। सूचनाओं की प्रौद्योगिकी ज्ञान कोष में वृद्धि कर रही है। परन्तु यदि वहां अध्यात्म अनुपस्थित रहा और उसमें सद्‌दृष्टि का विवेक नहीं जुड़ पाया तो ऐसा विज्ञान मानवता के विकास में अपनी अहम् भूमिका निर्वहन करने में असमर्थ रहेगा। याद रखें विवेकरहित ज्ञान से संवेदनशील और सौंदर्यपरक सृजनशक्ति की बजाय ध्वंसात्मक शक्ति को ज्यादा बढ़ावा मिलेगा।

अस्तु धर्म और विज्ञान की सहमैत्री इक्कीसवी शताब्दी के लिए शुभाशीष बने और इसकी व्याप्ति विस्तृत हो यह शोधालेख इसी भाव में लिखा गया है। इस शोध लेख में कर्म सिद्धान्त की शाश्वतता को वैज्ञानिक आँख से पढ़ने का एक प्रयास किया गया है।

जैन दर्शन में कर्म की सिद्धि:

प्रत्येक जीव मूलतः अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत शक्ति या वीर्य वाला है। परन्तु जीव के ये मूलगुण वर्तमान में प्रकट नही हैं। इसका कारण आत्मा की यह शक्ति हमारे भाव कर्मों और द्रव्य कर्मों की संतति के कारण अप्रकट है।

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेण आछण्ण। (समयसार गाथा 67)

अर्थात्: अनन्त चतुष्टय वाले जीव को पराभूत करने वाला प्रतिपक्षी द्रव्य कर्म भी शक्ति संपन्न है। जैसा आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा है–

मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभाव लभते न हि।
मत्तः पुमान्पदार्था नां यथा मदनकोद्रवैः।।

जिस प्रकार नशीले कोदों के सेवन से जीव हिताहित को भूल कर मदमस्त हो जाता है, उसी प्रकार मोहकर्म रूपी मद्य से जीव अपने मूल स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पा रहा है। जैसे मैल के प्रभाव से वस्त्र की सफेदी नष्ट हो जाती है उसी प्रकार कर्मो की सत्ता के कारण जीव संसारी बना हुआ दुख प्राप्त कर रहा है। मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करने वाला "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र" गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय भाव के उदय से आत्मा क्रमशः मिथ्यादृष्टि अज्ञानी और चारित्ररहित होकर असंयमी हो रहा है।

नास्ति कर्मफलच्छेताकश्चिल्लोक मयोऽपि च। (महाभारत)

तीन लोक में ऐसा कोई पुरूष नहीं जो कर्मों के फल को भोगे बिना उन्हें नष्ट कर सके। आंग्ल भाषा मे कहावत है –

"As we sow, so we reap"

हम जो कर्म बीज बोते हैं उसी के फल की फसल काटते हैं।

जीव परिणाम हेदुं कम्मतं पुग्गला परिणमेति।
पुग्गल कम्मणिमित्तं, तहवे जीवो वि परिणमदि।।

(समयसार गाथा 80)

जीव के रागद्वेष परिणामों का निमित्त पाकर कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य कर्मरूप में बदल जाते है। अर्थात् भावों से द्रव्यकर्म आमंत्रित होते हैं। इसी प्रकार द्रव्य कर्म का सहयोग पाकर जीव मिथ्यात्व और रागादि भाव परिणाम करता है। जैसे पुरूष द्वारा ग्रहण किया आहार रस विपाकों द्वारा मांस, रूधिर, मज्जा वीर्य आदि में रूपांतरित हो जाता है उसी प्रकार कर्म स्कंध (समूह) भी जीवों में रागादि भावों को प्राप्त करके आठ स्वभाव वाले कर्मों में परिणमित हो जाता है।

कर्म का रसायनविज्ञान–

कर्म का उदय जीव की स्वतंत्रता को बाधित करता है और इसे परतंत्र रखना चाहता है। जीव के पारिणामिक भाव और औदयिक भाव, दोनों का संघर्ष निरंतर चालू है। उस संघर्ष ने जीव की चेतना को तीन भागों में विभाजित कर दिया–

1. ज्ञानचेतना
2. कर्म चेतना
3. कर्मफल चेतना

1. ज्ञान चेतना :–

ज्ञानचेतना का काम है मात्र जान लेना। आंख के सामने आई वस्तु का ज्ञान हो जाना। ज्ञान चेतना है।

2. कर्म चेतना :–

इसका काम राग द्वेष उत्पन्न करना है। पांचों इन्द्रियों के विषय हमारे सामने आते हैं उसमें किसी के प्रति राग तो किसी दूसरे विषय के प्रति द्वेष उत्पन्न होता हैं, यह काम मोह का है या कहें कर्म चेतना का है।

3. कर्मफलचेतनाः–

इसका काम सुख दुख की संवेदना पैदा करना है। इस विषय में सुख का संवेदन और अनिष्ट से दुख का संवेदन यह कर्मफलचेतना का काम है।

मेडीकल साइन्स के अनुसार अनेक प्रकार की शारीरिक ग्रंथियों में रसायन बनते हैं और रसों का स्राव होता है। कर्मशास्त्र के अनुसार कर्म का रसायन बनता है जिसे कर्म का अनुभाग बंध कहते हैं। कर्म का रसविपाक, ग्रंथितंत्र और नाड़ीतंत्र को प्रभावित करता है। कर्म उदय हुआ, विपाक हुआ और उससे नाड़ी तंत्र प्रभावित हुई। यह सिद्ध हो गया है कि रस बदला और हमारे विचार बदल जाते हैं। हमारा आचार और व्यवहार बदल जाता है। कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति यह जानता है कि अमुक काम बुरा है किंतु जब कर्म का उदय और विपाक काल आता है तो उस व्यक्ति से वह काम जैसे कोई जबरन करवा देता है।

जब कर्म का विपाक आता है तो दो स्थितियां बनती हैं:–

1. पुण्य कर्म का विपाक आया तो सुख मिलता है प्रिय–संवेदन मिलता है। धर्म के प्रति श्रद्धाभिभूत सम्यग्दृष्टि उस समय यह विचारता है कि मैं पुण्य का ऐसा भोग करूं जिससे आगे वह पाप का कारण न बन जाये। वह सोचता है कि पुण्य से जो सुख और सुविधाएं एवं भोग प्राप्त हैं इन्हें मैं नहीं भोगूंगा केवल उतना

ही भोगूंगा जितना आवश्यक एवं अनिवार्य है। इस प्रकार वह कर्मो से हल्का होता हुआ वह निर्जरा को प्राप्त होता है। धर्म से विहीन व्यक्ति पुण्य कर्म के विपाक समय मिली सुख–सुविधाओं में इतना मगन हो जाता है उनको भोगते हुए इतना अहंकारी हो जाता है कि वह अपने हेय और उपादेय का ख्याल नहीं रखता जिससे वह आगामी अनन्त कर्मों का बंध करता रहता है।

2. जब पाप कर्मों का विपाक आता है तो व्यक्ति बेहाल हो जाता है परन्तु सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा उस समय विचारता है कि मैंने अतीत में अशुभ कर्म किया होगा जिसका यह दुःख रूप फल है अतः इसका भोक्ता क्यों बनूं। ऐसा विचारकर वह समता भाव रखता है जिससे नए पाप कर्म नहीं बांधता है। उक्त दोनों स्थितियां तब बनती है जब ज्ञानचेतना जागती है।

कर्मबंध की प्रक्रिया वैज्ञानिक पृष्ठ भूमि पर :–

कर्म का आस्रव, कर्म का बंध तथा कर्म का संवर और निर्जरा, इन चार बातों को वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार से व्याख्यापित किया जा सकता है।

पुद्गल द्रव्य (Physical Matter) को 23 वर्गणाओं (Classifications) के अन्तर्गत रखा गया है। इनमें एक कार्मण वर्गणा भी है। जो जीव के विभाव परिणमन के अनुसार कर्मरूप बदलकर जीव/आत्मा के साथ संयुक्त हो जाते हैं। संपूर्ण लोकाकाश इन कार्मण रूप सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य से भरा हुआ हैं। जैसे संपूर्ण आकाश में विद्युत् चुंबकीय तरंगे (Electro Magnetic waves) व्याप्त है। कर्म परमाणु के पुंज अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण तरंग रूप में गमन करते हुए माने जा सकते हैं जिनका कम्पनांक (Frequencies) बहुत उच्चतम अर्थात् X rays के कम्पनांक (10^{11}. 10^{17} Htz) की तुलना में भी असंख्य गुणा ज्यादा होता है।

एक निश्चित कंपन की विद्युत् चुंबकीय तरंगों को रेडियो–रिसीवर द्वारा प्राप्त करने के लिए उसमें एक ऐसे दोलित्र (Oscillator) का उपयोग करते हैं जो उन विशेष कंपन की तरंगो को पैदा कर रहा हो। उसे विद्युतीय साम्यावस्था का सिद्धान्त (Principle of Electrical Resonance) कहते हैं।

इससे आकश में व्याप्त वह विशेष कम्पन्न वाली विद्युत चुंबकीय तरंगे रिसीवर द्वारा ग्रहण कर ली जाती हैं। जो रिसीवर में संधारित्र प्रणाली (Condenser) द्वारा सम्पन्न (Tunned) कर ली जाती हैं।

आत्म प्रदेशों द्वारा कार्मण स्कंधों की तरंगों को ग्रहण करने में यही प्रक्रिया लागू होती है। कर्म उदय के समय आत्म प्रदेशों में तीव्र कम्पन्न होते हैं जिससे

अशुद्ध भावों का सृजन होता है। आत्म प्रदेशों में यह कम्पन्न मन, वाणी और शरीर के अंग–उपांग के परिस्पंदन की सहायता से होता है जिसे जैन दर्शन में योग संज्ञा से अभिहित किया गया है।

यहां आत्म प्रदेश दोलित्र की भांति व्यवहार करता है। आत्मभावों के अनुरूप उत्पन्न तरंगे जिस तरंग लंबाई विशेष की होती हैं वही तरंग लंबाई वाली कर्म वर्गणा की तरंगों को वह आत्मा आकाश से अपनी ओर ग्रहण कर लेता हैं। जैन दर्शन की आगम भाषा में इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि भाव कर्मों से द्रव्य कर्मों का आना। यही आस्रव तत्व होता है। यहां एक शंका उत्पन्न हो सकती है कि आत्म प्रदेशों में कम्पन्न क्यों होता है और इसका कौन प्रेरक है। इसका समाधान है पूर्वबद्ध कर्मो का जब विपाक समय आता है अर्थात् उनका उदय काल आता है तो वे आत्मप्रदेशों में कम्पन्न उत्पन्न करते हुए अलग हो जाते हैं। जैसे डाली से फल गिरने पर डाली में कम्पन्न उत्पन्न होता है। कर्म विशेष का यह उदय या विपाक काल के समय यह परिस्पन्दन होना स्वाभाविक है। प्रति समय कर्म का उदय होता है जिससे प्रति समय आत्म प्रदेश स्पंदित होते रहते हैं। और वे नवीन कर्मों को ग्रहण करते रहते हैं। इस प्रकार आत्म प्रदेश और कर्म परमाणुओं का यह संश्लेष, कर्मबंध हैं। इस कर्मबंध के दो कारक है –

1. भाव बंध– मोह, मिथ्यात्व राग द्वेष, काषयिक भाव अर्थात् क्रोध, मान माया लोभ आदिजीव के वैभाविक (अशुद्ध/विकृत) भाव हैं। यही भाव आत्म प्रदेशों में परिस्पनदन करते रहते हैं।
2. द्रव्य बंध– नवीन कर्म परमाणुओं का पूर्वबद्ध कर्मों के साथ या आत्मप्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही रूप हो जाना द्रव्यबंध है जैसे दूध में पानी मिलाने पर पानी दूध रूप हो जाता है।

स कषायात्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः।

तत्वार्थसूत्र 8–21

अर्थात् कषाय सहित होने पर यह जीव कार्मण स्कन्धों को ग्रहण करता है यही बंध है। विज्ञान की भाषा में कहें तो आत्म प्रदेशों के कम्पन तथा कार्मण प्रदेशों का कम्पन का अध्यारोपण (Interference) होना बंध है। जैन दर्शन में बंध का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है –

जोगा पयडि पएसा ट्ठिदि अणुभागा कसायदो कुणदि।
अयरिणदुच्छिण्णेसु य बंध ट्ठिदिकारणं णत्थि।।

(गोम्मट सार कर्मकांड 257–216)

संसारी जीव योग से प्रकृति व प्रदेश बंध को करता है तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध करता है। जो जीव योग और कषाय से युक्त नहीं है उसके कर्मबंध भी नहीं है। इस प्रकार कर्मबंध चार प्रकार का होता है:–

1. प्रकृतिबंध–कर्म की प्रकृति स्वभाव को प्रकृतिबंध कहा गया है जो आठ प्रकार का है – ज्ञानावरणी, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

1.1 : ज्ञानावरणीय कर्म: जो आत्मा के ज्ञान स्वभाव को ढंक देता है जैसे भगवान की प्रतिमा के सामने वस्त्र रहने से उसका रूप ढक जाता है।

1.2 : दर्शनावरणीय कर्म: चेतना रूपी प्रकाश को आवृत करने वाला कर्म है। जैसे द्वारपाल राजा या मंत्री से मिलने नहीं देता।

1.3 : वेदनीय कर्म: इंद्रियों का अपने रूपादि विषयों का अनुभव करना वेदनीय है उनमें अच्छा–बुरा, साता/ असाता रूप सुख दुख का जो कर्म वेदन या अनुभव कराता है वे वेदनीय कर्म हैं।

1.4 : मोहनीय कर्म: जो जीव को मोहित करे। जीव के दर्शन गुण को मोहित करके उसे मिथ्यादृष्टि बनाता है वह मोहनीय कर्म दर्शन मोहनीय होता है तथा जो जीव के चारित्र गुण को मोहित करके आत्मा के चारित्र गुण को प्रकट नहीं होने देता वह चारित्र मोहनीय है। जैसे शराब के नशे में जीव अपने को भूल जाता हैं। मोहनीय कर्म इन आठों कर्मों में सबसे शक्तिशाली होता है इसलिए इसे कर्मो का राजा कहा गया है।

1.5: आयुकर्म: जिस कर्म के उदय से जीव नानागतियों मे जाता है या जाने के लिए बाध्य होता है।

1.6: नामकर्म: जैसे चित्रकार अनेक प्रकार से चित्र बनाता है उसी प्रकार नाम कर्म संसार संरचना का कर्म करता है। शुभ नामकर्म से सुंदर और अशुभ नाम कर्म से विकलांग या कुरूप शरीर प्राप्त होते हैं।

1.7: गोत्र कर्म: जैसे कुंभकार छोटे बडे घड़ो का निर्माण करता है उसी प्रकार यह कर्म जीव को उच्च या नीच आचरण वाले गोत्र में प्रतिष्ठित करता है।

1.8: अन्तराय: जो दाता और ग्राह्यता पात्र के बीच विघ्न उत्पन्न करा दे जैसे भंडारी, राजादि के लिए दानादि में हस्तक्षेप का कारण बन जाता है उसी प्रकार अंतराय कर्म जीव को परांगमुखी बना देता है।

कर्मो की ये आठ प्रकृति तरंग सिद्धान्त से विभिन्न तरंगदैर्ध्य (Wave length) वाली या उनकी विशिष्ट कम्पनांक (Frequencies) में हुआ करती हैं। अलग–अलग तरंग दैर्ध्य की कार्मण तरंगे अलग–अलग प्रकृति या स्वभाव

वाली होती है। ठीक जैसे भिन्न–भिन्न रंग का प्रकाश भिन्न–भिन्न तरंग दैर्ध्य वाला होता है।

2. अनुभाग बंध :

विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभाशुभकर्मणम्।
असावनुभवी ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः।।

पूर्व में कहे हुये शुभ–अशुभ कर्मो का जो विपाक रस है वह अनुभाग कहलाता है। जिस कर्म का जैसा नाम है उसका वैसा ही अनुभाग या अनुभव होता है। विपाकोऽनुभवः। (तत्वार्थ–8/21) स यथानाम (वही 8/22) उदय में आकर फल देने को अनुभव बंध कहते हैं। यह द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा तीव्र या मंद भाव रूप होता है।

3. प्रदेश बंध :–

तत्वार्थसूत्र 8/24 का यह निम्नलिखित सूत्र प्रदेश बंध के संबंध में 6 बातों का रहस्य खोलता है :

नाम प्रत्ययाः सर्वतो योग विशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः
सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः।

1. प्रदेश बंध किसके कारण है? (नाम प्रत्ययाः) ज्ञानावरणदि सभी कर्म प्रकृतियों के कारण।
2. वे कर्म प्रदेश कब, कहां बंधते है? (सर्वतः) सभी भावों में ।
3. किस कारण से बंधते है? (योग विशेषता)–मन वचन और काय के परिस्पन्दन रूप योग के कारण से बंधते हैं।
4. उन कर्मों का स्वभाव कैसा है? (सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाहः) सूक्ष्मरूप है।
5. बंधने वाले कर्म किनको बांधते हैं ? (सर्वात्मप्रदेशेषु) आत्मा के संपूर्ण प्रदेशों में क्षेत्रवर्ती कर्म परमाणुओं को।
6. वे कर्म–स्कंध कितनी संख्या वाले है? (अनन्तान्तप्रदेशः) एक आत्मा के असंख्यात प्रदेश होते हैं और प्रत्येक प्रदेश में प्रति समय अनन्तानन्त प्रदेशी पुद्गल स्कंध बंध रूप होते रहते हैं।

स्थिति बंध :–

प्रत्येक कर्म के बंधे रहने की काल मर्यादा को स्थिति बंध कहते हैं। जैसे वेदनीय, अन्तराय, ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय के उत्कृष्ट स्थिति 30 कोड़ाकोड़ी सागर, मोहनीय की 70 कोड़ाकोड़ी सागर, तथा नाम व गोत्र की 20 कोड़ा कोड़ी सागर होती है तथा आयु की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागर की होती है। इसी प्रकार इन

कर्मो की जघन्य स्थितियां इस प्रकार है :–
वेदनीय की 12 मुहूर्त, नाम व गोत्र की 8 मुहूर्त तथा शेष समस्त कर्मो की अर्न्तमुहूर्त है।

इस प्रकार कर्मो की बंध की व्याख्या संक्षेप में हैं।

जैन दर्शन में कर्म का वही स्थान है जो अन्य दर्शनों में ईश्वर का। कर्म की भूमिका ईश्वर के रूप में जीवों की पर्यायों की सृष्टि, संरक्षण और संहार करता रहता है।

कर्म सिद्धांत का वैज्ञानिक विवेचन

सुरेश चन्द्र जैन बारोलिया
बी–677, कमला नगर, आगरा

साधक के आत्म विकास में जिस शक्ति के कारण वाधा उपस्थिति होती है उसे जैन दर्शन में कर्म कहते हैं। यह जैन दर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है। भारतीय दार्शनिकों ने कर्म शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। सभी धर्म की शाखाएँ कर्म सिद्धान्त को अपनी अपनी परिभाषा में स्वीकार करती हैं। यज्ञ आदि क्रिया काण्ड को मीमांस शास्त्री लोग कर्म मानते हैं। गीता में क्रियाशीलता को कर्म माना है। अकर्मण्यता को हीन बताया है। महाभारत में आत्मा को बांधने वाली शक्ति को कर्म मानते हैं। बौद्ध साहित्य में प्राणियों की विविधता का कारण कर्मो की विभिन्नता कहा है। हिन्दू जगत के विचारके तुलसीदास ने इन शब्दों में प्रगट किया है–

कर्म प्रधान विश्व कर राखा
जो जस करहि सो तस फल चाखा।।

इस प्रकार भारतीय दार्शनिकों ने कर्म पर विशेष विचार व्यक्त किये हैं। यह सर्वमान्य है कि जीवन में सुख–दुख की अनुभूति होती है उसका कोई आधार अवश्य होना चाहिये। क्योंकि कार्य के साथ कारण जुड़ा हुआ है। बिना कारण कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। जैसे नीव के बिना मकान नहीं बनता है। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा एक समान है कोई गरीब है, कोई सेठ है, इस प्रकार विचित्र एवं विभिन्न स्थिति उत्पन्न करने वाला प्राणी का अपना कर्म ही परोक्षरूप से कारण हो सकता है। जैन सिद्धान्त में कर्म विज्ञान पर जो प्रकाश डाला है वह अन्य दर्शनों में नहीं पाया जाता। जैन दर्शन में कर्म विज्ञान पर बहुत गम्भीर, विशद वैज्ञानिक चिंतन किया गया है। कर्म सिद्धान्त आगम की मौलिक विद्या रही है। बिना कर्म सिद्धान्त के जैन शास्त्र का विवेचन पंगु हो जाता है। कर्म बंधन का वर्णन करने वाला 40 हजार श्लोक प्रमाण वाला महाबन्ध नाम जैन ग्रन्थ प्राकृत भाषा में अभी भी उपलब्ध है। अब इसका हिन्दी

अनुवाद हो गया है। 84 लाख जीवयोनी में अपने कर्म के अनुसार जन्म–मरण के चक्र से गुजरना पड़ता है।

जैन परम्परा में कर्मबंध के सिद्धान्त को प्रकृति के नियम के रूप में माना है। जिसमें किसी प्रकार से परिवर्तन सम्भव नहीं है। अर्थात् शुभ कर्म का फल बहुत सुखदायी होता है। अशुभ कर्म का फल पापोदय के रूप में अनिर्वायतः अशुभ दुखदायी होता है। जन्म मरण का कारण ही कर्म है। कर्म शब्द का सीधा–सीधा अर्थ है कि कार्य, व्यवहार, भूमि पर हाथ–पांव आदि के द्वारा करना, धरना, कार्य कहा जाता है। जो केवल चेतन शरीर में प्रधानतया मनुष्यों में ही देखने को मिलती है लेकिन इस शब्द का सैद्धान्तिक अर्थ अत्यन्त व्यापक है। प्रत्येक पदार्थ में जो प्रतिक्षण नई–नई पर्याय उत्पन्न होने के कारण उस वस्तु के काम अथवा कर्म हैं। सहज स्वभाविक रूप में परिणमन करने वाला पदार्थ स्वयं अपनी पर्याय का कर्त्ता है। उसकी पर्याय का परिणाम उसका कर्म है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। हमारे पूर्व कर्म ही हमारे भाग्य का निर्धारण करते हैं। कर्म भी अपने आप आत्मा से चिपकते नहीं है। हम खुद अपने राग,द्वेष एवं प्रमाद से कर्मबन्धन करते हैं और उसका फल भोगते हैं। अपने ही पुरूषार्थ से कर्म बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। हम संसारी मोह–माया में इतने व्यस्त रहते हैं कि क्षण भर भी विचार नही करते कि कर्म क्या हैं, क्यों आते हैं और कैसे मुक्त होकर अविनासी सुख प्राप्त हो सकता है। तीर्थंकरों ने स्वयं अनुभव करके इसे सिद्ध कर दिया है कि राग–द्वेष के कारण हम जिस प्रकार का संकल्प–विकल्प करते हैं उसी जाति की अच्छी और बुरी कार्माण वर्गणायें योग शक्ति से आत्म में खिच कर आती हैं। गौतम गणधर ने अपनी तत्व जिज्ञासा की पूर्ति के लिये भगवान महावीर से पूछा प्रभो! आत्मा क्या है? आत्मा नित्य है? या अनित्य है कुछ कहते हैं कि आत्मा नाशवान है कुछ कहते हैं आत्मा का पूर्व जन्म होता है, कोई कहता है कि नहीं होता है। मैं सत्य को जानना चाहता हूँ सत्य क्या है। इस आत्मा के संबंध में 60 हजार प्रश्न पूछें जिनका वर्णन व्याख्या–प्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थ में है। इस ग्रन्थ में दो लाख अठठाईस हजार श्लोक प्रमाण हैं। इस प्रकार जीव आत्मा का स्वभाव जानना और देखना है। जानो–देखो–विगडो मत परन्तु जीब का अनादिकाल से कर्म के साथ सोने व किट्टकलिमा की तरह संयोग बना है। जीव क्या है वह दिखाई नहीं देता। आज के युग में मानव कहता है कि आत्मा हमें दिखाई नहीं देती हम इसे कैसे स्वीकार करें। इस सन्दर्भ में वीर प्रभु ने अपने संदेश में एक उदाहरण के माध्यम से

बताया कि तुम्हारे पिताजी किनसे पैदा हुए तथा पिताजी के पिताजी किनसे पैदा हुए? आपने देखा नहीं है फिर भी स्वीकार करते हैं। यह कैसे केवल अनुभव एवं परम्परा से ही स्वीकार करते हैं। उसी प्रकार जीव को भी अनुभव से स्वीकार करना होगा। जीव और कर्मो का अनादिकाल से ही सम्बन्ध है जैसे खान से निकला सोना मिट्टी रूपी मैल से मिला हुआ है वेसे ही जीव और कर्मो का अनादिकाल से स्वतः सम्बन्ध रहा है किसी ने इसका संबंध नहीं किया है।

आज कल दुनिया में विज्ञान (साइंस) का नाम बहुत सुना जाता है इसने धर्म नाम पर प्रचलित अनेकों धर्मो की कलई खोली है। इसीलिये अनेकों धर्म विज्ञान का विरोध करते हैं। जैन धर्म तो सर्वज्ञ वीतरागी, हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान का बताया हुआ है। वस्तु का स्वभाव रूप है इसलिये यह वैज्ञानिकों की खोज का स्वागत करता है। विशेष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं या विधिवत् ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। प्रकृति का क्रमबद्ध व्यवस्थित अध्ययन या शोध–बोध–खोज–आविष्कार को ही विज्ञान कहते हैं। आज धर्म दर्शन की विज्ञान के अनुसार विवेचना करने की आधुनिक विचारक विशेष रूचि ले रहे हैं। आज यह मान्यता होती जा रही है कि आधुनिक युग में वही दर्शन और धर्म उपयोगी हो सकता है जो विज्ञान की मान्यता के अनुकूल हो। आज विज्ञान ने हमें गति व शक्ति दी है। हमें लक्ष्य–धर्म और दर्शन से प्राप्त करने हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण जिस शक्ति का संग्रह किया है उसका उपयोग कैसे किया जाये उसके लिये धर्म व दर्शन को देखना होगा। मानव कल्याण के लिये विज्ञान एवं धर्म–दर्शन के पूरक सहयोग समन्वय की आवश्यकता है। उसके लिये जरूरी है कि परम्परागत अन्धविश्वासों और विकृतियों पर आधारित मूल्यों का निराकरण किया जाये।

जैन धर्म सम्पूर्ण वैज्ञानिक है। तूर्यकाल के आरम्भ से लेकर आज तक जैन धर्म वैदिक सभ्यता से भी अति प्राचीन धर्म है। 24 तीर्थंकर इसके जीवन्त प्रमाण हैं। अणु एवं परमाणु अति प्राचीन शास्त्रों में मिलते हैं। वनस्पतियों में जीवन हैं आचार्यो ने जगदीश चन्द बोस वैज्ञानिक से अनंत समय पहले जैन धर्म में बताया था। जैन धर्म की वैज्ञानिकता सत्य परकता आज सारे वैज्ञानिक समुदाय के आगे हैं। समयानुकूल हमें यह वैज्ञानिकता सम्पूर्ण विश्व समाज को बतलानी है। जैन धर्म में कर्म सिद्धान्त को बताया है। आचार–विचार–वचन एवं व्यवहार से जैन धर्म अहिंसक है एवं अहिंसा ही विश्व शान्ति का सूचक है। आज सिद्धानतः धर्म और विज्ञान का स्वतंत्र महत्व है। दोनों ही सत्य तक पहुँचने के माध्यम है। विज्ञान भौतिक प्रयोग शाला में किसी वस्तु की सर्वभौमिक सत्यता को प्रगट करता है तो धर्म जिज्ञासा अनुभव के आधार पर

आत्मा की प्रयोगशाला में सत्य को खोजता है। दोनों का मार्ग एक ही है सत्य को पहिचनना। आज सभी मानते हैं धर्म और विज्ञान दोनों ही जीवन उपयोगी है और दोनों का लक्ष्य ही सत्य का अनुसंधान करना है। आधुनिक विचारों ने जैन धर्म की अनेकों मान्यताओं को वैज्ञानिक दृष्टि से विशेष पुष्टि की गई है। जीव वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा टेस्ट टयूब में मानव भ्रूण निर्माण की जो सम्भावनाएं प्रकाश में आई है जैन धर्म दर्शन की जीव विषयक धारणा उससे काफी मिलती है। यद्यपि आधुनिक विज्ञान जगत् में ऐसा कोई प्रयोग नहीं हुआ है जिससे कर्म सिद्धान्त की पूर्ण वैज्ञानिक पुष्टि हो सके क्योंकि अभी तक विज्ञान आत्मा पर प्रयोग नही कर सकता है।

आज हजारों मील दूर से शब्दों को हमारे पास तक पहुँचाने में माध्यम रूप से ईथर नाम के अदृश्य तत्व को वैज्ञानिकों को कल्पना करनी पड़ी है किन्तु जैन आचार्यो ने हजारों वर्ष पहले ही लोकव्यापी महास्कन्ध नामक पदार्थ के अस्तित्व को बताया है कि इसकी सहायता से भगवान जिनेन्द्र के जन्मादिक की वार्ता क्षणभर में समस्त जगत में फैल जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था कि नेत्रकम्प का दुस्पंदन आदि के द्वारा इष्ट–अनिष्ट घटनाओं के सन्देश स्वतः पहुँचाने में यही महास्कन्ध सहायता प्रदान करता था। यह व्यापक होते हुये भी इसे सूक्ष्म बताया गया है। वैज्ञानिकों की पद्धिति ऐसी है उन्होंने नवीन उद्भावना के द्वार खोले हैं। धर्म दर्शन की पद्धित्ति ऐसी है कि नवीन उद्भावना को भी किसी पुराने तीर्थंकर या ग्रन्थ के नाम पर ही चलाया जाता है। नवीन उद्भावना को धर्म और दर्शन में नवीनता स्वीकार नहीं है। नवीनता का धर्म दर्शन के क्षेत्र में अप्रमाणिकता किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में नवीनता का अर्थ मौलिकता है। वर्तमान विज्ञान भी प्रगतिशील अवस्था में है। यूरोपियन विद्वानों ने ठीक कहा है कि आधुनिक विज्ञान जैसे जैसें बढ़ता जायेगा वैसे वैसे तत्वों की समीचीनता प्रकाश में आती जायेगी। जैन दर्शन से विज्ञान का इतना अधिक सम्बन्ध है कि जैन कथाओं में अवैज्ञानिक बात नहीं मिलती ।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह बात सिद्ध है कि आत्मा जैसा संकल्प करती है वैसा ही संकल्प का वायु मण्डल में चित्र उतर जाता है। अमेरिका के वैज्ञानिकों ने इन चित्रों के फोटो भी लिये हैं। इन चित्रों को ही जैन दर्शन की परिभाषा में कार्माण वर्गणाएं कहते हैं। जो पांच प्रकार मिथ्यात्व, 12 प्रकार के अविरत, 25 प्रकार की कषाएं और 15 प्रकार के योग 57 कारणों से आत्मा की और खिंच आती हैं। जिस तरह किसी चिकनी वस्तु पर मिट्टी आसानी से चिपक जाती है तथा लोहे का चुम्बक ही योग शक्ति से अपने आप खिच जाता है उसी प्रकार कर्मो के इस तरह खिच कर आने को जैन धर्म में आश्रव और चिपटने को बंध कहा हैं। केवल किसी कार्य को

करने से ही कर्मो का आश्रव या बंध नहीं होता बल्कि पाप और पुण्य के जैसे विचार होते हैं उसी प्रकार का अच्छा या बुरा/आश्रव बंध होता है। इसलिये जैन धर्म में कर्म के दो प्रमुख भेद बताये हैं। पहला भाव कर्म दूसरा द्रव्य कर्म। वैसे तो अनेकों प्रकार के कर्म करने के कारण द्रव्य कार्य के 84 लाख भेद हैं जिनके कारण यह जीव 84 लाख योनियों में भटकता है जिसका विस्तार से वर्णन महाबंध व गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि में बताया गया है। जैन आचार्य बताते हैं कि आत्मा के प्रदेशों में कंपन होता है उसी कंपन से पुद्गल (मेटर) का परमाणु पुंज आकर्षित होकर आत्मा के साथ मिल जाता है उसे कर्म कहते हैं। प्रवचनसार के टीकाकार श्री अमृत चंद सूरी लिखते हैं कि आत्मा के द्वारा प्राप्त होने की क्रिया को कर्म कहते हैं। उस क्रिया के निमित्त से पुद्गल भी जीव कहलाता है। जिन भावों के द्वारा पुद्गल आकर्षित होता है उसे हम भाव कर्म कहते हैं। आत्मा में विकृत उत्पन्न करने वाला पुद्गल पिण्ड को द्रव कर्म कहते हैं। स्वामी अकलंक देव का कथन है जिस प्रकार पात्र विशेष में रखे गये अनेकों रस वाले बीज पुष्प तथा फल का मद रूप में परिणामन होता है उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों का क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी कषायों का मन,वचन,काय के निमित्त से आत्म प्रदेशों के परिस्पन्दन रूप योग के कारण कर्मरूप परिणमन होता है।

वैज्ञानिकों द्वारा निर्मित टी.वी. टैलेक्स, फैक्स व कम्प्यूटर आदि को बिना किसी सीधा कनेक्शन के आश्चर्य जनक कार्य करते हुये हम प्रत्यक्ष देख रहें है जहां विद्युत शक्ति का मात्र मूल आधार है। इसी प्रकार आत्मा की क्रिया की प्रतिक्रिया स्वरूप सूक्ष्म संस्कार जिसे कर्म वर्गणा कहा जाता है आत्मा व शरीर एकमेव न होते हुये भी उनकी बीच उपस्थित पौदालिक मन के अतःकरण में अंकित हो जाते हैं। यही कर्म कार्य है। सर्वज्ञ प्ररूपित जैन दर्शन में वस्तु स्वभाव को यथावत मानना सम्यक् श्रद्धा है। तथा कर्म प्रक्रिया के सिद्धान्त को जीवात्मा के लिये संसार परिभ्रमण का मूल कारण मिथ्या श्रद्धा है। अतः जैसा बोया वैसा पाया मानकर जीव में उतार–चढ़ाव व दुःख–सुख के किसी भी प्रसंग को कर्मोदय का ही अनिवार्य प्रतिफल समझकर समभाव से स्वीकार करना ही आत्मशांति का मार्ग है।

जैन धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है इसके सिद्धान्त सर्वोपयोगी हैं। जैन दर्शन के कर्म सिद्धान्त द्वारा मानव के मन में ऐसी धारणा बिठा दी है कि कहीं भी कोई कार्य किया जाता है वह रिकार्ड हो जाता है उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है। नरक का डर, स्वर्ग का प्रलोभन कुछ मानवों द्वारा कल्पित माना जाय पर इस धारणा से व्यक्ति दुष्कर्मो से बचने तथा सुकर्मों में प्रभावी कार्य करता है। कर्मवाद जैन दर्शन

का एक विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है। प्राणी मात्रा की जीवन व्यवस्था व समस्या, कर्मसिद्धान्त पर आधारित है। आत्मा के साथ कर्मों का बन्धन अनादिकाल से चला आ रहा है। जिसके कारण जीव संसार में भटकता है। कर्मो का बंधन किस प्रकार से होता है यह बात समझ में आ जाये तो इससे छुटकारा भी पाया जा सकता है। कर्मबंधन की प्रक्रिया को वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर बताया गया है कि कर्म सिद्धान्त कुदरत के कानून की एक खुली किताब है जैसे कम्पयूटर में जो फीड किया जाता है उसकी फ्लोपी बन जाती है, जैसा बोया जाता है, समय आने पर उसका फल प्राप्त होता रहता है। जैन दर्शन ने कर्मबंधन के पांच कारण बताए हैं– मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग। प्रमुख रूप से दो मुख्य है– प्रथम योग मन,वचन, काय की प्रवृति को योग कहते हें तथा दूसरा प्रमुख कषाय है। क्रोधादिक विकारों को कषाय कहते हैं। जो क्रियाएँ कषाययुक्त होती हैं वह बंध बलवान होता है और जो क्रियाएं कषाय रहित होती है वह कमजोर बंध होता है। बंध के भी चार भेद है प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध तथा प्रदेश बंध। आत्मा के जिन विशुद्ध परिणामों से कर्म का आश्रव रूकता है वह भाव संवर है तथा कर्मो का आवागमन रूक जाना द्रव्य संवर कहलाता है। भाव संवर के 62 भेद हैं। कर्मो के आंशिक रूप से झरने को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो भेद द्रव्य और भाव कर्म परमाणुओं का आत्मा से झड़कर अलग हो जाना द्रव निर्जरा है। आत्मा की जिन विशुद्ध भावों के कारण परमाणु आत्मा से पृथक् होते हैं वह भाव निर्जरा है।

वर्तमान युग में वैज्ञानिक साधन, पदार्थ, विज्ञान को समझने में अत्यन्त ही उपयोगी है। जैसे केमरे में किसी की फोटो प्रतिबिम्बित की जा सकती है। यह सब अदृश्य पौदगालिक क्रियाओं के द्वारा सम्भव है। वैसे ही आत्मा में मन, वचन,काय के योग से जैसे शुभ भाव उत्पन्न होते है वैसे उसी प्रकार कर्मवर्गणाओं के अणु जो सर्वत्र व्याप्त है, आत्मा के प्रदेशों में उत्पन्न भावों के अनुसार आकर्षित होकर बंध रूप में परिणत हो जाते हैं और उसका फल भुगताकर छूट जाते हैं यह प्रकृति का विधान है। अतः कर्म की गति कभी निष्फल नहीं होती है, यह सिद्धान्त के रूप में हर दर्शन में मान्य है। प्रकृति पर नियंत्रण करना विज्ञान के वश में नही है। वैज्ञानिक उपकरणों से जगत् में जो गतिविधियां चल रही हैं देखी जा सकती हैं वह बदली नही जा सकती। जगत् का संचालन प्रकृति की महान् शक्ति के आधीन है। जब कोई अनहोनी घटना होती है तो सहज कह दिया जाता है कि ऊपर वाले की मर्जी है वह ऊपर वाला कोई नहीं है कर्म की प्रकृति की महासत्ता है। वह सृष्टि की नियति या नियामक है। जिसे आधुनिक भाषा में रिमोट कंट्रोल कहा जाता है।

द्रव्य का छोटे से छोटा भाग परमाणु कहलाता है। जैन दर्शन के अनुसार गुण पर्याय युक्त पदार्थ को द्रव्य कहा गया है। इसलिये परमाणु भी गुण और पर्यायों युक्त हैं। प्रत्येक परमाणु के अस्तित्व आदि के लिये सामान्य गुण स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सहित होते हैं। जैन दर्शनिकों ने इन्हें द्रव्य की संज्ञा दी है। परमाणु के योग से सूक्ष्म स्कंध बनता है जिसे वर्गणा नाम दिया है। विज्ञान उसे मालीक्यूल MOLECULE कहता है। वर्गणा नाम के सूक्ष्म स्कंध 5 प्रकार से बताये हैं। आहारक वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा, तैजस वर्गणा तथा कार्मण वर्गणा। पाँचों उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। इसमें कार्मण वर्गणा अत्यन्त ही सूक्ष्म होने के कारण इसका लक्षण किसी भी प्रकार इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता है। परन्तु विवेक के द्वारा हम उसका अध्ययन कर सकते हैं। आज का मनोविज्ञान किसी न किसी रूप में इसका साक्षी है।

कार्मणा वर्गणाओं को हम टेप रिकार्ड के साथ तुलना कर सकते हैं। हम जो कुछ अच्छा या बुरा बोलते हैं वह ज्यों का त्यों टेप पर अंकित हो जाता है परन्तु आंखों से देखने पर दिखाई नहीं देता है। टेप पर कहां अंकित हुआ पता नहीं चलता केवल टेप ही हमको दिखाई देता है। उसी प्रकार औदारिक शरीर तो हमें दिखाई देता है परन्तु उसके भीतर लिप्त कार्मणा वर्गणा का वह मसाला हमें दिखाई नहीं देता। मन,वचन,काय से हम जो कुछ भी अच्छा बुरा विचारते हैं उन सबके संस्कार ज्यों के त्यों कार्मणा शरीर नामक इस मसाले पर अंकित हो जाते हैं। औदारिक शरीर पर अंकित किया गया अंकन किस रूप में हुआ पता नही चलता। जिस टेप पर हम सब कुछ ज्यों का त्यों सुन सकते हैं उसी प्रकार समय आने पर मन,वचन,काय के माध्यम से हम कार्मणा शरीर पर अथवा बंधी कार्मणा वर्गणाओं पर अंकित सबकुछ ज्यों का त्यों अनुभव कर सकते हैं। उसी प्रकार मन के द्वारा विचारते हैं, वचन के द्वारा बोलते हैं और काय के द्वारा कार्य करते हैं। आचार्य कुन्द–कुन्द स्वामी ने समाधान करते हुये लिखा है कि जिस प्रकार पुरूष के द्वारा खाया गया भोजन जठराग्नि के निमित्ति से मांस, चरबी, रूधिर आदि रूप परिणमन को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार जीव अपने भावों के द्वारा जिस कर्म पुंज को कार्मणा वर्गणाओं को ग्रहण करता है उनका इसके तीव्र, मन्द और मध्यम कषाय के अनुसार विविध रूप में परिणमन होता है। इससे स्पष्ट होता है निमित्त विशेष से पदार्थ कितना विचित्र और विविध परिणमन दिखाता है।

मानव अपनी अज्ञानता प्रमाद, राग, द्वेष के कारणों से अनादिकाल से संसार में भटक रहा है और दुख पा रहा है। यह व्यक्ति के पुरूषार्थ एवं विवेक पर निर्भर है कि वह कर्म बंधन से कैसे छुटकारा पाये। जीव व पुद्गल के संयोग से आश्रव व

बंध होता है और उनके वियोग से संवर, निर्जरा, मोक्ष होते हैं। जैन दर्शन ने इन सात तत्वों को माना है। जैन दर्शन के अनुसार संसार की समस्त वस्तुओं के दो मुख्य भाग हैं। 1–जीव 2–पुद्गल। जीव का मुख्य लक्ष्य ज्ञान, दर्शन है और पुद्गल (जड़–अजीव) स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सहित होता है। इनको द्रव्य बताया है। इनकी पर्याय बदलती रहती हैं। पूर्व पर्याय नष्ट होती है और नवीन पर्याय उत्पन्न होती है। परन्तु इनकी ध्रौव्यता बनी रहती है। ध्रौव्यता वह गुण है जिससे पर्याय बदलते रहने पर भी द्रव्य पहचाना जा सकता है। यह कभी नष्ट नही होता त्रिकाल रहता है। कर्म बंधन की प्रक्रिया में जीव व पुद्गल ही मौलिक द्रव्य माने हैं। इन दोनों द्रव्य में समान रूप से पाये जाने वाले 4 लक्षण हैं 1–जो गति में सहायक हो वह धर्म द्रव्य है 2– जो स्थिरता में सहायक हो वह अधर्म द्रव्य है 3– जो स्थान देने में सहायक हो वह आकाश द्रव्य है 4– जो निरन्तर परिणमन में सहायक है वह काल द्रव्य है। इन चार लक्षणों को जैन दर्शन में द्रव्य का स्थान दिया है। हमेशा परिवर्तन होने के कारण द्रव्यों को स्पन्दन व आवृति के रूप में विज्ञान में लिया गया है। यदि हम दोनों द्रव्यों का विश्लेषण करें तो इनके 5 पैरामीटर से परिभाषित करना पड़ेगा। 1–द्रव्य 2–क्षेत्र 3–काल 4–भव 5–भाव। द्रव्य तो यह बतायेगा कि यह जीव है या पुद्गल, क्षेत्र व काल उद्घाटित करेंगें कि जीव/पुद्गल आकाश में कब और कहां होंगें और भव यह बतायेगा कि जीव कौन सी गति में मनुष्य, देव, तिर्यंच और नारकी में होगा और भाव उस समय की मानस स्थिति/गुण अभिव्यक्त करेंगें। कुछ ऐसे भी लक्षण हैं जो जीव व पुद्गल में समान रूप से पाये जाते हैं। इन लक्षणों की सीमायें भी निर्धारित हैं तथा न्यूनतम गति भी है। अतः जीव पुद्गल की भूत, वर्तमान, भविष्य की स्थितियों का आंकलन करने के लिये एक एक गणितीय पेरामीटर बना कर बाउन्ड्री कंडीशंस व समय सीमाओं आदि का उपयोग करना होगा।

काल द्रव्य को कम्प्यूटर या कैलकुलेटर के उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है। कम्प्यूटर में एक क्लांक आवृति होती है। (स्पंदों की श्रृंखला) इस क्लांक आवृति से ही कम्प्यूटर की गणना/शक्ति/गति आंकी जा सकती है उसी प्रकार आत्मा में से भी आवृति प्रवाह होती रहती है।

एक इन्द्रिय जीवों से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रीय जीवों तक क्लाक आवृति की संख्या व आयाम न्यूनतम से उच्चतम तक बढ़ती रहती है। इस सन्दर्भ में यह कह सकते हैं कि कैलकुलेटर में वेटरी डी.सी. ऊर्जा स्रोत तो आत्मा के समान हैं एवं आवृति इत्यादि उत्पन्न करने वाले सर्किट (चिप) तैजस शरीर के समान हैं। जिस प्रकार कषायों के कारण कार्मणा शरीर की रचना होती है उसी प्रकार से क्लांक

स्पंदन भी बाहरी सिगनल से मिलकर माडुलित हो जाती हैं। प्रत्येक जीव की काल आवृति एक निश्चित परिसर में होती है जिसे अणु संरचना सिद्धान्त अलाइन्ड वैण्ड कहते हैं। संज्ञी पचेन्द्रीय जीवों में केवलज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान होती है। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर उनके क्लार्क आवृति इन्फ्रारेड दृश्यमान, परावैगनीय एक्सरे किरण की आवृति से भी ऊपर चली जाती है जिनके द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों की भूत, भविष्य और वर्तमान की समस्त पर्यायों को एक साथ जानने देखने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। जिसे हम जैन दर्शन में केवलज्ञान कहते हैं।

इसी प्रकार पुद्गल से निकलने वाली आवृतियों के बारे में विचार करें तो ज्ञात होगा कि भौतिक सिद्धान्त के अनुसार समस्त जड़ पदार्थ तापक्रम के अनुसार इलेक्ट्रोमेगनेटिक किरणें विर्कीण करते हैं। पुद्गल में शब्द रूप परिणत होने वाली भाषा वर्गणा, आहार वर्गणा शुभ–अशुभ कर्म रूपी वाली वर्गणाऐं आदि के 23 भेदों का वर्णन आगम में बतलाया है। पुद्गल से विकसित होने वाली आवृतियों को 23 वेण्डों में विभाजित किया जा सकता है। काल द्रव्य दो प्रकार है निश्चय और व्यवहार, जीव द्रव्य की नजदीकी दो स्पंन्दनों के बीच के अन्तराल को निश्चय काल कह सकते हैं। ये स्पंदन जब मांडुलन आवृत्ति से माडुलित हो जाती हैं तो माडुलन आवृति की न्यूनतम या उच्चतम आयाम की दूरी को व्यवहार काल कहते हैं। जीव की कलाक आवृति योग कषाय के अनुसार मांडुलित हो जाती है। ये माडुलन पैकिट के रूप में होता है जिनमें पैकिटों की दूरी आबाधाकाल का द्योतक है। और पैकिटों की चौड़ाई ये बताती है कि कोई भी कर्म की स्थिति कर्मो का उदयकाल कितने समय तक रहेगा।

कर्मो का बंधन 8 प्रकार से होता है। आयु का बंध जीवन में एक बार होता है। भौतिक के सिद्धान्त के अनुसार जब कोई प्रकाश की किरण कांच के प्रिज्म में से गुजरती है तो वर्णपट पर यह किरणें विभिन्न रंगों में बिखर जाती हैं। ठीक उसी प्रकार कर्मोदय काल में भी 7 कर्मों में विभाजन हो जाता है। भौतिक सिद्धान्त (रमन प्रभाव) के अनुसार कोई किरण पुञ्ज किसी पदार्थ से गुजरती है तो किरण के छितराव होने पर विशेष परिवर्तन होता है और पदार्थों के अणुओं की संरचना के आधार पर उसके वर्णपट पर एक नये रंग की रेखा नजर आती है। ऐसी स्थिति कर्मो की होती है। उपरोक्त तर्को एवं उदाहरणों से हम यह कह सकते हैं कि जीवों का कर्म बंधन उदय, निर्जरा आदि समस्त कार्य वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर होने वाले प्रक्रम के अनुसार जाना जा सकता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार होने वाली रेडियो एक्टिवता Radioactivity/अल्फा/बीटा गामा आदि विकिरणों के उत्सर्जन

तथा अवशोषण Absorption की प्रक्रिया पुद्गल के पुरण गलन स्वाभव के ज्वलन्त उदाहरण हैं। संगलन और विदलन की प्रक्रिया ही क्रमशः हाइड्रोजन वम एवं अणुवम के निर्माण का आधार है।

इस युग की सबसे महान खोज यह है कि पदार्थ (मेटर) और शक्ति (एनर्जी) में कोई अन्तर नहीं है। पदार्थ शक्ति का पुञ्ज और शक्ति पदार्थ का अति सूक्ष्म रूप है। 3000 टन पत्थर के कोयले को जलाने से जितनी ऊष्मा हीट उत्पन्न होती है यदि उसे एकत्रित करके तोला जाना सम्भव हो तो उसकी तोल 1 माशा बराबर 1 ग्राम होगी। एटमवम का निर्माण भी इसी सिद्धान्त पर हुआ है।

हमें यह गर्व है कि जैन आचार्यों ने आज से हजारों वर्ष पूर्व यह बात बतलाई थी। ताप, प्रकाश और विद्युत् जो शक्ति के रूप में हैं पुद्गल (मेटर) का स्थूल सूक्ष्म रूप है। अणु बम का मूलभूत तथ्य है। ऐसे न जाने कितने अमूल्य सिद्धान्त हमारे शास्त्रों में भरे पड़े है परन्तु दुनिया के सामने रखने की कोशिश नहीं की गई। राजस्थान के रेगिस्तान में पोकरन में जरासा एटोमिट धमाका हुआ था सारी दुनिया में तहलका मचा दिया था। मगर क्या कोई जानता है आईन्सटाईन का यह सिद्धान्त जिस पर यह धमाका आधारित था हमारे आचार्यो को आज से शताब्दियों पूर्व ज्ञात था। विज्ञान क्या है यदि थोड़े शब्दों में प्रगट करें तो यह नाप–तोल का नाम विज्ञान है। नाप–तोल के लिये इकाई की जरूरत होती है। जैसे किसी को नापने की इकाई इंच–फुट में और तोल की इकाई ग्राम तोला में और काल की इकाई सैकिन्ड, मिनट और घन्टा है। यह आवश्यकता के अनुसार छोटी बड़ी होती हैं। कमरे की नाप की इकाई फुटों और गजो में होती है, नगर की इकाई मीलों में प्रगट करती है, दूरी बढ़ती जाती हैं उसी प्रकार पैमाने की नाप भी बढ़ती जाती है। आकाश की दूरी योजन अथवा प्रकाश वर्षों में सम्पूर्ण लोक के विस्तार को नापने के लिये राजू का प्रयोग होता है। इस बात को हिन्दू, बौद्ध, जैन सभी गणितिज्ञों ने माना है। इंग्लेण्ड के प्रसिद्ध ज्योतिषी कोल ब्रुक ने लिखा है कि राजू उस दूरी को कहते हैं जो एक देव (स्वर्ग का वासी) 6 माह में 2057152 योजन प्रति क्षण की गति से तय करता है। इस प्रकार तीन लोक का आयतन 343 धन राजू है। संसार के महान् विज्ञान वेत्ता अलबर्ट आइन्सटाइन ने इस लोक को गोलाकार मानकर अर्द्धव्यास 1.068 अरब प्रकाश वर्ष बताया हैं। एक प्रकाश वर्ष 5.88^{10} मील के बराबर है। तदनुसार लोक का आयतन 1037^{10} घन मील बैठता हैं।

बिना यंत्रों और प्रयोगशालाओं की सहायता के जिन तीर्थंकरों ने बाल की नोक से लेकर समूचे लोक का साइज अपने केवलज्ञान पर निर्धारित किया कौन

साहस कर सकता है यह कहने का कि हमारे तीर्थंकर सर्वज्ञ नहीं थे। तीर्थंकरों ने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की, राग द्वेष को जीता तथा परमोत्कृष्ट ज्ञान अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्त किया। अपनी ही दिव्य ध्वनि से समाज की शंकाओं को दूर किया। उनको सादा जीवन व्यतीत करने का एवं आत्म कल्याण करने का मार्ग दिखाया और आयु पूर्ण होने पर निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया।

जैन आगम साहित्य के उपरोक्त संक्षिप्त अनुशीलन से उसमें वर्णित रसायनिक विषयों वैचारिक अंश, परमाणुवाद बंधकता बन्ध दशायें आदि का आधुनिक वैज्ञानिकों ने प्रयोग, पोषण किया है। इन विचारों की गर्जना ही दो हजार वर्ष पूर्व के प्रयोग विहिन युग में हमारे आचार्यो की विलक्षण प्रतिभा–तीक्ष्ण निरीक्षण शक्ति और गहन अर्न्तदृष्टि का परिचय देती है। इनकी गुणात्मकता की कोटि इनके परिणामात्मक साक्ष्य के अभाव की पर्याप्त प्रतिपूर्ति करती है लेकिन जब हम रसायन के चक्षु ग्राहम रूपों पर ध्यान देते हैं तब हमें लगता है कि उपलब्ध विवरण आज की तुलना में अत्यन्त ही अल्प, स्थूल और अपूर्ण है। कहीं पर्याप्त विसंगति भी दिखती हैं। इन विसंगतियों का समाधान और नवीन तथ्यों का समाहरण हमारी धार्मिक आस्था को बलवन्ती बनाने के लिये अत्यन्त ही आवश्यक हैं।

जैन धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है यह मान्यता गत एक शताब्दी के हुये नवीन वैज्ञानिक अनुसंधानों के निष्कर्ष से जैन पारम्परिक मान्यताओं में अद्भुत साम्य के कारण विकसित हुई हैं। गणित, भैतिक, जैविकों आदि के क्षेत्रों में जैनाचार्य द्वारा सदियों पूर्व स्थापित सिद्धान्तों की गत 1–2 शताब्दियों में हुये अनुसंधान कभी भी अन्तिम नहीं होते हैं। विभिन्न विषयों पर स्थापित वैज्ञानिक निष्कर्ष नवीन अनुसंधानों द्वारा अनेकशः पूर्णत एवं अनेकशः अंशतः बदल दिये जाते हैं। ऐसे में वैज्ञानिक निष्कर्षों के आलोक में विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न महान जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित नियमों को असत्य तो नहीं ठहराया जा सकता है किन्तु जिन वैज्ञानिकों के निष्कर्ष द्वारा पारम्परिक रूप से स्थापित सिद्धान्तों को समझने में मदद मिलती हो अथवा जिन गूढ रहस्यों को हम अब तक समचीन रूप में समझ नहीं पा रहे थे किन्तु वैज्ञानिक निष्कर्षों के आलोक में उनको अपेक्षाकृत सरलता पूर्वक समझाया जा सकता है उन पारम्परिक जैन सिद्धान्तों की वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचना आज के युग की महान् आवश्यकता हैं।

कर्म सिद्धान्त और आरोग्य-विज्ञान

समणी मल्लिप्रज्ञा
शिष्या–आचार्य महाप्रज्ञ
जैन विश्व भारती संस्थान लाडनू

आरोग्य सुख शान्ति की राह है। उसे समग्रता से समझने के लिए जैनों के कर्म सिद्धान्त और आरोग्यविज्ञान के संबंध को जानना आवश्यक है।

जैन दर्शन का सिद्धान्त अध्यात्म की भूमिका पर आरूढ़ होकर अनेक समस्याओं का समाधान देता है। आरोग्य विज्ञान आयुर्वेद का दूसरा नाम है। अथर्ववेद के मंत्र देवों के लिए भेषजप्रतिपादन है, जिनसे आरोग्य प्राप्ति होती है। इसलिए अथर्ववेद को आयुर्वेद का उद्‌गम स्थल माना जाता है। आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित है।

कर्म सिद्धान्त को सम्यग् रूप से समझकर व्यक्ति पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करने के लिए तथा नवीन कर्मों के आगमन को रोकने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। आयुर्वेद शास्त्र के भी दो उद्‌देश्य बतलाए गए हैं। रोग से पीड़ित व्यक्तियों को रोग से मुक्त करना और दूसरा स्वस्थ पुरूषों की रक्षा करना।

आयुर्वेद के कुछ आचार्यों ने कर्म के स्तर पर भी विश्लेषण किया है। उन्होंने माना है–रोगों के जनक पुण्य पाप भी है। जैन दर्शन सम्मत चौदह पूर्व ग्रन्थों में कर्मप्रवाह नामक पूर्व है। उसमें कर्म और उसके परिणामों का विस्तार से वर्णन प्राप्त है। आज वह महाग्रन्थ प्राप्त नहीं है किन्तु कर्म विषयक जो सूत्र उपलब्ध है उनका गम्भीर अध्ययन करने पर रोग, आरोग्य और कर्म का सम्बन्ध सूत्र बुद्धिगम्य हो जाता है। उसके अध्ययन से नए–नए आयाम उद्‌घाटित होते हैं।

आज अपेक्षा है रोग और आरोग्य दोनों घटकों का सही ज्ञान के लिए कर्म–सिद्धान्त और आरोग्य विज्ञान का संयुक्त अध्ययन हो। आचार्य श्री महाप्रज्ञ के अनुसार कर्म–सिद्धान्त की गूढ़ पहेलियों को सुलझाने तथा उसकी व्यापक उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए आधुनिक आरोग्य विज्ञान के शोधकार्यों को भी जानना जरूरी है दूसरी और आरोग्य विज्ञान के सामने कुछ चुनौतियाँ, कुछ अहेतूक बीमारियां तथा स्वास्थ्य से जुड़ी समस्याओं का अनेकान्त दृष्टि से समाधान के लिए, कर्म सिद्धान्त

को गहराई से समझना अपेक्षित है। इसलिए वार्तमानिक परिप्रेक्ष्य में दोनों शास्त्रों का एक–दूसरे के पूरक के रूप में किया जाने वाला अध्ययन हमारे स्वास्थ्य से संबद्ध प्रश्नों का सही व स्थायी समाधान देने में ज्यादा सफल हो सकता है।

आरोग्य के मुख्य घटक है–रोग, रोग हेतु, रोग निदान–रोग मुक्ति उपाय। कर्म सिद्धान्त में भी इन चारों तत्वों पर प्रकाश डाला गया है। कर्म के आठ प्रकार है। उनमें से तीन प्रकार–मोहनीय नाम, वेदनीय कर्म और नाम कर्म का प्रत्यक्ष और परोक्ष संबंध हमारे स्वास्थ्य से है।

कर्म का रोग पर प्रभाव

कर्म के आठ प्रकारों में से तीन कर्मो का सीधा सम्बन्ध बीमारियों के साथ प्रतीत होता है। कर्म विज्ञान के अनुसार असात वेदनीय कर्म मानसिक शारीरिक दुःख, व्याधि, जन्म–जरा, मरण आदि दुःखों का हेतु बनता है। मोहनीय कर्म मनोकायिक, चैतसिककायिक भावात्मक आधि और उपाधि का कारणभूत है। शुभ और अशुभ नाम कर्म शरीर और मन की सुखद और दुःखद अनुभूति का माध्यम बनता है।

कर्म सिद्धान्त की इस अवधारणा को हम आयुर्वेद के सन्दर्भ में देखें तो वहां चरकऋषि द्वारा वर्णित "प्रज्ञापराध" का वर्णन प्राप्त होता है।

चरक सूत्र में चरक ऋषि ने "प्रज्ञापराध" कर्म बात कहते हुए कहा–

इन्द्रियोक्रमोक्तस्य सद्‌वृत्तस्य च वर्ज्जनम।
ईर्ष्या-मान-भय-क्रोध-लोभ-मोह मद्‌भ्रमाः।।
तज्जं वा कर्म्म यतक्लिष्टं यद्‌वा तद्‌देहकर्म च।
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम्।
प्रज्ञापराधपं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम्।।

बुद्धिकृत अपराध को ही शिष्टजन प्रज्ञापराध कहते हैं जो रोग उत्पन्न करते हैं। विद्वानों या बुद्धिजीवियों का उत्तेजित होना तथा उत्तेजना को बलपूर्वक रोकना निरन्तर साहस के कार्यों में संलग्न रहना और अतिशय स्त्री प्रसंग करना, निर्धारित कार्यकाल का उल्लंघन करना, कार्यों का मिथ्याभिमान, विनय और आचार का लोप, पूज्य व्यक्तियों का अपमान, स्वयंज्ञात अहितकर विषयों का सेवन, असमय आदेश का प्रसारण, क्लेश–कारक कर्म करने वालों के साथ मैत्री, इन्द्रियों को संयत रखने वाले सदाचार का त्याग, ईर्ष्या, मान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद, और मनोभ्रान्ति अथवा इन सबसे सम्बद्ध क्लेशकारक कर्म या दैहिक कर्म या फिर इस प्रकार के अन्य कर्म जो मोह से उत्पन्न हो ये सब कर्म प्रज्ञापराध कहलाते हैं।

कर्मों का रोग पर प्रभाव :–

कर्म का विपाक किसी माध्यम के द्वारा होता है। शरीर और मन में सुखद तथा दुःखद संवेदन भी कर्म विपाक का माध्यम बनते हैं। कर्मो की अभिव्यक्ति का मुख्य स्थान ही शरीर और मन है। शारीरिक योग अर्थात् व्याधि को परिभाषित करते हुए सुश्रुत संहिता में कहा गया – "तद्दुःख संयोगी व्याधय उच्यन्ते।" अर्थवेद में यह स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता हैं कि क्रोध, चिन्ता, भय, शंका आदि मानसिक विकारों से शरीर में 40 प्रकार के विष उत्पन्न होते हैं। विष अर्थात् शरीर के लिए अनुपयोगी, घातक विजातीय पदार्थ। इन विजातीय पदार्थों का मुकाबला करने के लिए रोग प्रतिरोधात्मक क्षमता का होना आवश्यक हैं। कर्मशास्त्रीय भाषा में असाता वेदनीय कर्म का उदय होता है तब वह कर्म शरीर की अशुद्ध ऊर्जा भावतन्त्र को अशुद्ध बना देती है। इससे इम्यूनिटी सिस्टम का रोगप्रतिरोधक क्षमता कमजोर हो जाती है तथा शरीर भी रोगों को ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाता है।

रोगों का कर्म पर प्रभाव –

जिस प्रकार कर्म शरीर और मन को प्रभावित कर रोगोत्पति में हेतु बनता है उसी प्रकार रोग भी कर्मों के उदय तथा बन्ध को प्रभावित कर देते हैं। प्रज्ञापना सूत्र की टीका में आचार्य मलय गिरि ने प्रसंगवश उल्लेख किया है कि पित्त का कोप कुपित हो तो क्रोधकषाय का उदय होता हैं। क्रोधकषाय मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है। पित्त का कोप कलहकारी वृति को जन्म देता है। वात का असन्तुलन वायुविकार जनित उदासी, कुण्ठा, आदि की स्थिति पैदा करती है।

इस सन्दर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ का मन्तव्य भी उल्लेखनीय है। शरीर की ऊर्जा यदि ठीक है तो साता वेदनीय का संवेदन होगा। यदि शरीर की ऊर्जा अस्त व्यस्त है तो असाता वेदनीय का संवेदन होगा। दुःख का संवेदन होगा। तैजस शरीर से स्थूल शरीर को ऊर्जा की शक्ति प्राप्त होती है– मन की भी यही स्थिति है मन भी ऊर्जा से संचालित है। हमारी जैविक ऊर्जा ठीक काम कर रही है तैजस शरीर की ऊर्जा समीचीन है तो मन प्रसन्न रहेगा, आनन्दित होगा यदि ऊर्जा समचीन नहीं हैं तो मन अशान्त हो जाएगा, दुःखी बन जाएगा, बुरे विचार आने लगेंगे। आचार्य महाप्रज्ञ ने आधुनिक व्याख्या के साथ रोगों का कर्म पर पड़ने वालों प्रभाव को समझाया है। स्पष्ट है कि कर्म का विपाक तथा बन्ध एकांगी नहीं होता। इसके लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि निमित्त बनते हैं। रोग भी बन सकते हैं। व्यक्ति नाक भौं सिकोड़ता है इससे घृणा करता है घृणा से मोहनीय कर्म के साथ में ज्ञानावरणीय,

वेदनीय कर्म का भी बंध होगा। ईर्ष्या करेगा तो मोहनीय कर्म ज्यादा बंध होगा। रोग और कर्म का संबंध आचारशास्त्र से जुड़ा है। हमारा आचार, व्यवहार रोग में निमित्त तथा कर्म उपादन कारक बनते हैं। एक श्रृंखला बनती है रोग, असाता वेदनीय कर्म का बंध तथा असात वेदनीय कर्म के विपाक की स्थितियां।

रोग के हेतु

दर्शन जगत में एक कार्य का एक ही कारण माना गया जैसे आम की गुठली से आम का पेड़ होगा। परन्तु रोग उत्पत्ति में ऐसा नहीं होता। एक ही बीमारी के कई कारण हो सकते हैं। अतः आयुर्वेद एवं कर्म सिद्धान्त रोग के कई कारणों की चर्चा करते हैं।

वात– पित्त–कफ–इन तीनों दोषों का कुपित होना या किसी एक का कुपित होना। आयुर्वेद में कहा गया–दोष वैषम्यं रोगः।

द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव भी रोगोत्पत्ति में सहायक होते हैं।

द्रव्य– किसी व्यक्ति को गैस हो गई और वह यदि पापड़ खा ले तो गैस की पीड़ा बढ़ जाएगी।

क्षेत्र– नेपाल, भूटान या दार्जलिंग मे जाएंगे तो जल्दी सर्दी जग जाएगी।

काल– गर्मी के दिनों में ही लू लगती है सर्दी में नहीं।

भाव– तनाव बढ़ा या कुण्ठा हुई कि अनिद्रा, पाचनतंत्र का गड़बड़ होना स्वाभाविक है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी ने कहा द्रव्य, क्षेत्र आदि प्रधान कारण है रोग के उत्पन्न करने में पर कर्म के उदय में ये निमित कारण भी है।

माता–पिता, परिस्थितियां, आन्तरिक परिवेश, रासायनिक–असंतुलन आदि भी रोग के हेतु है। अनावश्यक स्मृतियां करना बीमारी का बहुत बड़ा हेतु है।

बीमारी का हेतु केवल शरीर ही नहीं होता मन भी होता है मनोकायिक बीमारियां भीतर से आती है। अर्थात् साईक से आती है, यूंग के अनुसार चेतना के दो स्तर है माइंड और साइक। बहुत सारी बीमारियां साइक से आती है।

रोगों का बहुत बड़ा हेतु है भय। भय बढ़ा कि हृदय, फुफ्फुस, गुर्दा खराब हो जाता है।

नकारात्मक भाव शारीरिक व मानसिक रोगों का प्रमुख हेतु बनते हैं।

नंदीसूत्र की टीका में मलयगिरी ने लिखा–अनिष्ट पुदगुलों का ग्रहण होता है। बुरे विचारों द्वारा बुरी कल्पना द्वारा हृदय का रोग होता है।

आर्तध्यान से व्याकुलता विक्षिप्तता बढ़ती है वह व्याकुलता विक्षप्तता अनेक शारीरिक मानसिक रोगों का हेतु बनती है। भगवान महावीर ने रोगोत्पत्ति के नौ

कारण माने है।

1. अच्चासणयाए – अधिक मात्रा में भोजन करने से हमारी प्राणशक्ति अधिक खर्च होती है। रोग का कारण प्राणशक्ति का कमजोर होना।
2. अहितासणयाए – अहितकर भोजन– हित्–मित्त् और ऋत भोजन के अलावा फास्टफुड, अतिठण्डा, अतिगरम, नशीली चीज रोग का हेतु बनती हैं।
3. अतिणिद्दाए – (अतिनिद्रा) अत्यधिक सोने से श्वास रेट बढ़ जाती है। कफ की मात्रा बढ़ती है।
4. अतिजागरितेणं – (अत्यधिक जागना)
5. उच्चारनिरोहेणं– (मलबाधा को रोकना)
6. पासवणणिरोहेणं– (मूत्र बाधा रोकना)
7. अद्धाणगमणेणं – (पंथगमन)
8. भोयण पडिकुलताए – (प्रतिकूल भोजन)
9. इंदियत्थविकोवणयाए – (इंद्रिय विकोपन)

आयुर्वेद में भी रोग के हेतुओं का वर्णन किया गया है।

तज्जो रोगः कर्मयोगः पुण्य और पाप भी रोग के हेतु बनते हैं। शरीर में विद्यमान अग्नि की तीक्ष्णता और मंदता रोग में निमित्त बनती है तथा अग्नि की तीव्रता, और मंदता में त्रिदोष का वैषम्य हेतु बनता है – तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मंदाश्चाग्निः समैः समः।

काल, अर्थ, कर्म का हीनाधिक या विषम योग रोग का तथा सम्यक् योग आरोग्य का मूल कारण है।

कालार्थकर्मणां योगो हीनाधिकातिमात्रकः।
सम्यक्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यकै कारणम्।।

प्राकृतिक चिकित्सा वाले बीमारी का कारण विजातीय तत्वों का उभार माना है। महावीर के अनुसार रोग का मूल हेतु है भाव जगत। रोग का एक हेतु बनता है अध्यवसान। हम अधिकांशतः चिकित्सा के क्षेत्र में बाह्यय हेतुओं पर ज्यादा ध्यान देते हैं पर बाह्य और अन्तरंग दोनों हेतु होते हैं। अन्तरंग हेतु है भाव।

रोग की प्रक्रिया

हर कार्य की एक विधि प्रक्रिया होती है वैसे ही रोग एकाएक नहीं आते हैं। किसी भी रोग की उत्पत्ति कुछ समय पहले सूक्ष्म स्तर पर हो जाती है पर विशेष प्रक्रिया से गुजर कर शरीर तक आने में उसे कुछ समय और लग जाता है।

आत्मवादी दर्शन में केन्द्र में आत्मा है, उसकी परिधि में कार्मण शरीर के द्वारा निर्मित कषाय वलय–अध्यवसाय–तैजस शरीर–लेश्या–ग्रन्थितन्त्र–यहां तक भावनात्मक क्षेत्र है। जब अध्यवसाय स्थूल शरीर में उतरते हैं तो नाडी तन्त्र को प्रभावित कर मानसिक विकृति पैदा करते है। लेश्यातन्त्र जो पूर्व संचित कर्मो का झरना है। वह अपने निर्देश मांसपेशियों, अस्थितंत्र, मनुवाणी और शरीर इन तीनों क्रियातन्त्र को देता है। इस चक्र से तात्पर्य है कर्म एक विशेष प्रक्रिया से शरीर को प्रभावित कर रोग को उत्पन्न करते हैं।

रोग के प्रकार

मूलतः हेतुभेद के आधार पर ही रोगों के प्रकार निर्धारित होते हैं। त्रिदोषवैषम्य के आधार पर पित्तज, कफज और वायुजनित रोगों के तीन प्रकार सर्वविदित है।

सुश्रुत–संहित में रोगों के चार प्रकार बताये गये हैं–

आगन्तवः शरीराः मानसाः स्वाभाविकाश्चेति।

आगन्तुक शस्त्रादि के आघात से उत्पन्न। शारीरिक रोग अन्नपान, त्रिदोष और रक्त इनसे एवं सन्निपात रूप में विषमता से उत्पन्न होते हैं। मानसिक रोग– क्रोध, भय, शोक हर्ष, दुःख, ईर्ष्या, असूया, दीनता, मात्सर्य, काम, लोभ आदि से तथा स्वाभाविक रोग–भूख, प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु, निद्रा आदि है।

महर्षिचरक ने रोग के तीन प्रकार माने हैं–निजागन्तुमानसाः आचार्य महाप्रज्ञ ने सभी प्रकार के रोगों को दो भागों में बांटा–बाह्यउपायसाध्य रोग तथा आभ्यन्तरउपायसाध्य रोग। आधुनिक संदर्भ में रोग के मुख्य तीन प्रकार बन सकते हैं। 1. शारीरिक 2. मानसिक और 3. भावनात्मक रोग।

आचार्य महाप्रज्ञ प्रणीत साहित्य में इन रोगों पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला गया है।

शारीरिक रोग– शारीरिक रोग से तात्पर्य बुखार, सर्दी, जुखाम, खांसी आदि से है। स्थूल शरीर का संचालक है–तैजस शरीर यह उत्पादन केन्द्र है। हमारा तैजस शरीर हमारे शरीर के भीतर की बैटरी है. विद्युत का विद्युत है, वह कमजोर हो जाती है तो शरीर गड़बड़ा जाता है। बीमार हो जाता है। इम्युन–सिस्टम भी कमजोर हो जाता है। तैजस शरीर के सक्रिय योग से शरीर स्वस्थ व निष्क्रियता से बीमारी। तैजस शरीर को सक्रिय रखने के लिए शरीर प्रेक्षा व चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा करवाई जाती है जिससे प्राण का संतुलन होता है और शरीर स्वस्थ हो जाता है। प्राण संतुलन के लिए कायोत्सर्ग, मंदश्वास का प्रयोग भी करना चाहिए। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए

थॉयराइयड व एड्रीनल जो नाभि का स्थान है दोनों का संतुलन जरूरी है। दोनों ही ग्रन्थियां महत्वपूर्ण हैं। आहार पर्याप्ति के द्वारा चयापचय की क्रिया होती है–जो शरीर को पूर्णतः स्वस्थ रखती है। आहार पर्याप्ति ठीक तो स्वास्थ्य अच्छा। जैविक रोग प्रतिरोधक क्षमता बनी रहेगी।

सामान्य लौकिक भाषा में नाभि टल गई–यह कहते है नाभि टलने पर सारी गड़बड़ हो जाती है। जब नाभि को ठीक किया जाता है तो आदमी स्वस्थ हो जाता है। प्रश्न होता है? ऐसा क्यों होता है। असंयम के द्वारा वृत्तियों की अधिक उत्तेजना के द्वारा भी ऐसा हो जाता है। रोग नाभि से गुदा तक का स्थान अपान प्राण का स्थान बताया गया। स्वास्थ्य का अपान के साथ गहरा सम्बन्ध है कहा भी गया। अपान शुद्धिः स्वास्थ्यम्। अनेक बीमारियों की जड़ अपान प्राण के स्थान में छिपी हुई है। जब हम नासाग्र पर ध्यान करते है एकाग्र होते है तो अपान प्राण व्यवस्थित होता है। यह स्वास्थ्य की महत्वपूर्ण कुंजी है।

मानसिक रोग– निराशा, कुण्ठा, अनुत्साह, इत्यादि मानसिक रोग का प्रमुख कारण है–आर्तध्यान। मानसिक रोग का आन्तरिक कारण है–काम, क्रोध, भय, आदि यह तथ्य आगम, आयुर्वेद, चिकित्सा विज्ञान सब में वर्णित है। अति क्रोध मानसिक बीमारी पैदा करता है। शरीर की बीमारी भी पैदा करता है। आयुर्वेद में उल्लेख है कि काम, शोक और भय अतिरिक्त होते है तो वायु विकृत हो जाती है। वह बीमारी बन जाती है, संवेग, कुण्ठा, अवसाद स्मृतिभ्रम आदि भी वायु प्रकोप से हो जाते है। ध्यान का उद्देश्य शान्ति या आनन्द ही नहीं, व्यवहारिक समस्या का समाधान, संवेग नियंत्रण भी होना चाहिए।

मानसिक रोग को मिटाने का उपाय है–धर्मध्यान अर्थात् एकाग्रता सत्य को जानने के लिए करो, यथार्थ को जानने के लिए करो। मानसिक स्वास्थ्य का महत्वपूर्ण उपाय है–स्मृति, चिन्तन व कल्पना का संयम। दूसरा प्रयोग है दिमाग को खाली रखना इसके लिए प्रयोग – श्वास संयम वेदना में व्याकुल मत बनना–यह मानसिक रोग से बचने का बड़ा महत्वपूर्ण सूत्र है।

भावनात्मक रोग – आवेग, संवेग, असहिष्णुता, क्रूरता आदि भाव आत्मा अथवा चेतना से जुड़े हुए हैं। हमारी भावनाएं भीतर से आती है। बाहर से उनका कोई संबंध नहीं रहता। भाव जगत् भीतर का जगत् है यह स्वास्थ्य के लिए कुंजी का काम करता है। मन के अच्छे अथवा बुरे कार्य के लिए उत्तरदायी है भाव। जैसा भाव वैसा मन, भाव मन को संचालित करता है। वर्तमान मेडिकल साईंस की दृष्टि से भाव की उत्पत्ति का केन्द्र है–लिम्बिक –सिस्टम, हाइपोथेलेमस। मस्तिष्क का यह हिस्सा भाव

संवेदना स्थल है–हाइपोथेलेमस। इसका केन्द्र है नाभि। वह तैजस केन्द्र है, जहां वृत्तियां अभिव्यक्त होती हैं। मन भाव द्वारा संचालित एक तन्त्र है। भाव द्वारा सारी प्रवृतियां संचालित हो रही हैं। क्रोध, लोभ माया, मान, ईर्ष्या, भय, घृणा, वासना ये हमारी भावनाएं हैं। इनके संयम पर हमारा भावनात्मक स्वास्थ्य निर्भर है।

चित्त का भावनात्मक स्वास्थ्य के साथ गहरा सम्बन्ध है– अन्तरायचित्त, मिथ्यात्व चित्त, मोहचित्त का सम्बन्ध हमारे स्वास्थ्य के साथ जुड़ता है। चित्त भाव को पैदा करता है। भाव का प्रवाह भीतर से आता है। हमारे जितने इमोशंस है ये सारे चित्त के उत्पाद है। स्वास्थ्य की दृष्टि से देखे तो अशुद्ध चित्त, अशुद्ध भाव और अशुद्ध मन तब स्वास्थ्य खराब। ये सब शुद्ध तो स्वास्थ्य अच्छा। मनोकायिक बीमारियां चित्त की अशुद्धि के कारण उपजती है। भाव की शुद्धि न होने पर शरीर खोखला होता चला जाएगा।

बहुत बीमारियां जो न शरीर से, न मन से किन्तु भाव से उत्पन्न होती है। बड़ी बीमारियों का स्रोत है–राग व द्वेष के आशय से पैदा होते है भावनात्मक संवेग। जैसे तेज क्रोध का परिणाम होता है तत्काल हार्ट अटैक। यदि निषेधात्मक भाव रहते हैं तो केंसर की संभावना हो जाएगी।

भाव की विकृति रोग को जन्म देती है। भय पैदा हुआ और बीमारी पैदा हो जायेगी। उत्कंठा पैदा हुई, बीमारी पैदा हो जाएगी। चीज के प्रति उत्सुकता और अति लालसा भयंकर बीमारी पैदा करती है। जिससे थाइरॉक्सीन की क्रिया बदल जाती है। जिससे उदासी, स्वभाव का चिड़चिड़ापन, अवसाद, डिप्रेशन आदि–आदि बीमारियां पैदा हो जाती है।

चिकित्सा

भगवान महावीर के सामने परम तत्व था आत्मा। उसे स्वस्थ रखने के लिए उन्होंने बहुत कहा और वह अध्यात्मशास्त्र बन गया। अध्यात्मशास्त्र का दूसरा नाम स्वास्थ्यशास्त्र है।

आत्म अरूज है। वह कभी रोग से आक्रान्त नहीं होती। जो स्वयं अरूज है उसका उपयोग रोग निवारण के लिए सहजतया किया जा सकता है। अध्यात्म चिकित्सा का मूल आधार है–आत्मा के अरूज स्वभाव का चिन्तन करना और तैजस केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करना।

स्वास्थ्य का बहुत महत्व है, उससे भी ज्यादा महत्व है स्वास्थ्य चेतना का। यदि स्वास्थ्य की चेतना जागृत है तो निश्चित ही आप जाने अनजाने आध्यात्मिक है। अध्यात्म चिकित्सा स्वास्थ्य चेतना का अगला चरण है।

अस्वस्थ मनुष्य चिकित्सा कराता है :–

- एलोपैथिक चिकित्सा में विश्वास करने वाला डॉक्टर की दवा लेता है।
- आयुर्वेदिक चिकित्सा में विश्वास करने वाला वैद्य की दवाई लेता है।
- होमियोपैथिक चिकित्सा में विश्वास करने वाला होमियोपैथी दवा लेता है।
- यूनानी चिकित्सा मे विश्वास करने वाला हकीम की दवा लेता है।

दवा लेने वाले रोगी को दवा लेने से रोका नहीं जा सकता। किन्तु दवा लेने के साथ–साथ अध्यात्म चिकित्सा अथवा भाव चिकित्सा का मार्ग सुझाया जा सकता है। दवा के साथ इसका प्रयोग करने से स्वास्थ्य में शीघ्र सुधार होता है और स्थायी सुधार होता है।

बाह्य रोगों की चिकित्सा बाह्य साधनों द्वारा की जा सकती है। आध्यात्मिक रोगों की चिकित्सा बाह्य साधनों से नहीं की जा सकती क्योंकि इन रोगों के परमाणु इतने प्रबल होते है कि वे बाह्य औषधियों को स्वीकार नहीं करते। उनकी चिकित्सा आभ्यन्तर उपाय से साध्य है। जैसी अनाथी की वेदना उसके ही संकल्प से ठीक हुई। कर्मज बीमारी की चिकित्सा विश्वास द्वारा की जा सकती है। संकल्प और भावशुद्धि के द्वारा की जा सकती है। भावशुद्धि और मानसिक शुद्धि भी रोग निवारण में सहायक बनती है। आभ्यन्तर कारण से रोग पैदा हुआ है तो चिकित्सा ध्यान, आसन, प्राणायाम आदि से की जा सकती है। आयुर्वेद के अनुसार रसायन सबसे बड़ी औषधि है। रसायन जरा और व्याधि को नष्ट करने वाला होता है। लेकिन इस रसायन से भी आचार रूपी रसायन मुख्य रसायन है।

भावना से भी चिकित्सा की जाती है। औषध प्रयोग के साथ–साथ भावना का प्रयोग भी कार्यकारी होता है। औषधि के साथ मैत्री की भावना अनुकंपा की भावना का प्रयोग किया जाए तो औषधि की शक्ति वृद्धिंगत हो सकती है। यदि बीमारी क्रूरता के कारण उत्पन्न हुई है तो क्रूरता की वृत्ति का परिष्कार कर सबके साथ मैत्री की भावना को पुष्ट किया जाए बीमारी नष्ट हो जाती हैं। यदि रोगी में मैत्री, प्रमोद, करूणा की भावना पैदा की जा सके, उसके मन की निर्मलता व प्रसन्नता को बढ़ाया जा सके, क्रोध, मान, माया, घृणा, ईर्ष्या आदि भावनाओं का परिष्कार किया जाए तो व्यक्ति पूर्णतः स्वस्थ हो सकता है।

शरीर शास्त्र में मस्तिष्क का गहरा अध्ययन हुआ है। उसमें अल्फा और थेटा–इन तरंगों का अध्ययन हुआ। अल्फा से मस्तिष्क का तनाव कम होता है, इसका तात्पर्य है कि ग्रन्थियों का स्राव संतुलित होता है जिससे मनुष्य स्वस्थ होता है।

आयुर्वेद का सूत्र है–दोषवैषम्यंरोगः दोषसाम्यं आरोग्यं तीनों दोष समअवस्थाओ

में रहते है तब स्वास्थ्य होता है। मानसिक दोषों के लिए उत्कृष्ट औषध–धी, घृति और आत्मा आदि का ज्ञान करना है। मानसिक समता आरोग्य है। जहां समता वहां स्वास्थ्य और जहां स्वास्थ्य वहां समता–हमारी जीवन शैली उपशम प्रधान समता प्रधान, तथा संतुलन प्रधान होने से शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक रोगों से बच सकता है।

जो अभय की साधना करना चाहे, आक्रामक मनोवृति को छोड़ना चाहे, कामवृति पर नियन्त्रण करना चाहे उसके लिए नासाग्र पर ध्यान करना चाहिए।

चिकित्सा अनेक प्रकार की होती है। उसमें एक चिकित्सा पद्धति –प्रेक्षा–थेरापी है। प्रेक्षा चिकित्सा जिसमें शारीरिक मानसिक व भावनात्मक रूप से व्यक्ति को स्वस्थ बनाया जाता है व असाता वेदनीय कर्म को मंद किया जा सकता है।

<u>प्रेक्षा–चिकित्सा</u>

कब्ज –

असान–पेट की दस क्रियाएं, अग्निसार, उदराकर्षण, इष्टवंदन

प्राणायाम– दीर्घश्वास, अनुलोम–विलोम, दाहिने स्वर को खुला रखकर मूलबन्ध कर 100 कदम चलना।

प्रेक्षा– ठुड्डी के नीचे के भाग को हथेली से दबाएं और उस पर ध्यान करें

अनुप्रेक्षा– बड़ी आंत को सुझाव–मेरी बडी आंत सक्रिय हो रही है।

मंत्र–हुं

तप– भोजन के बाद साढ़े–तीन घंटे तक कुछ नहीं खाना, गरिष्ठ, मैदा, मावा, तले हुए पदार्थ और चाय का वर्जन।

मुद्रा–सूर्य मुद्रा, शंख मुद्रा, नमस्कार मुद्रा।

विशेष प्रयोग– अर्धशंख प्रक्षालन, ताड़ासन, स्कन्धासन, तिर्यग भुजंगासन, शंखासन।

तनाव– शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तनाव शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति को नष्ट करते हैं।

आसन–ताड़ासन, नौकासन, सुप्तकायोर्त्स 20 मिनट। परिवर्तन मुद्रा, कार्योत्सर्ग, कण्ठ का कायोत्सर्ग।

प्राणायाम – दीर्घश्वास, केवल रेचन, सूक्ष्म भस्त्रिका, महाप्राण ध्वनि

प्रेक्षा– समवृत्ति श्वास प्रेक्षा, सम्पूर्ण शरीर पर श्वेत रंग का ध्यान

अनुप्रेक्षा– मैत्री और सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा।

मंत्र – ऊं हीं श्रीं भगवते पार्श्वनाथाय हर हर स्वाहा।

मुद्रा– ज्ञान मुद्रा, सुरभि मुद्रा, सूर्य मुद्रा, सर्वेन्द्रिय संयम मुद्रा।

कर्माधीन है शरीर का आरोग्य-अनारोग्य

आचार्य राजकुमार जैन

आयुर्वेद में 'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्' यह शरीर की व्याख्या प्रतिपादित की गई है जिसके अनुसार दोष (वात–पित्त–कफ) धातुएं (रस–रक्त–मांस–मेद–अस्थि–मज्जा–शुक्र) और मल (स्वेद–मूत्र–पुरीष) ये तीनों शरीर के मूल आधार हैं अर्थात् इनसे ही शरीर का निर्माण संगठन, संचालन और नियमन होता है। इसके अतिरिक्त शरीर की समस्त आन्तरिक क्रियाएं और बाह्य चेष्टाएं भी इन्हीं पर आधारित होती हैं। शरीर की आरोग्य या अनारोग्य अवस्था भी इन तीनों के ही आधीन है। प्रायः देखा गया है कि इनमें या इनमें से किसी एक में जब किसी प्रकार की विकृति या वैषम्य उत्पन्न होता है तो उनका पारस्परिक सन्तुलन बिगड़ जाता है जिसका सीधा प्रभाव शरीर के स्वास्थ्य पर पड़ता है। परिणाम स्वरूप शरीर अस्वस्थ हो जाता है। शरीर की अस्वस्थता, विकार या रोग होना शरीर की अप्राकृत अवस्था का द्योतक है। इसके विपरीत शरीर की स्वस्थता या आरोग्य शरीर की प्राकृत अवस्था है इन दोनों अवस्थाओं का विवेचन महर्षि चरक ने निम्न प्रकार से किया है–

विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृति रूच्यते।
सुख संज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ।।

अर्थात् धातुओं की विषमता को विकार (रोग) और धातुओं की समता (साम्यवस्था) को प्रकृति (स्वस्थावस्था) कहा जाता है। आरोग्य को सुख और विकार को दुःख कहा जाता है।

इसी प्रकार "रोगस्तु दोष वैषम्यम्" इत्यादि वाक्यों के द्वारा दोषों की विषमता को रोग माना गया है। और "दोष साम्यमरोगता" के अनुसार दोषों की साम्यावस्था अरोगता या आरोग्य की परिचायक है। इन वाक्यों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि दोष–धातु–मल की समस्थिति शरीर को आरोग्य प्रदान करती है और विषम स्थिति शरीर में रोग या विकार उत्पन्न कर शरीर को व्याधि ग्रस्त बनाती है।

महर्षि सुश्रुत के अनुसार मनुष्य के शरीर से दुःख मात्र का संयोग होना ही व्याधि कहलाता है और शरीर का व्याधिग्रस्त होना अनारोग्य या अस्वस्थता का

परिचायक है। इस संबंध में उनका निम्न वचन दृष्टव्य है –

"अस्मिंस्तु शास्त्रे पंचमहाभूत शरीरिसमवायः पुरूष इत्युच्यते।
तद्दुःख संयोगा व्याधय इत्युच्यते।।"

अर्थात् इस आयुर्वेद शास्त्र में पंच महाभूत और आत्मा का समवाय "पुरूष" कहलाता है और उससे दुख का संयोग होना व्याधि कहलाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि चेतनावान शरीर के साथ जो दुःख का संयोग होता है या उस चैतन्य शरीर को जो दुःख की अनुभूति होती है वह व्याधि है। यह दुःख शारीरिक और मानसिक भेद से दो प्रकार का होता है। दुःख की परिभाषा बतलाते हुए महर्षि पंतजलि ने लिखा है – "प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्।" अर्थात् शरीर में जो भी प्रतिकूल वेदना होती है वह दुःख संज्ञक है। वह व्याधिजनक होने के कारण शरीर के लिए अनारोग्य का कारण होती है। इसके विपरीत अनुकूल वेदना सुख संज्ञक है जैसा कि पांतजल योग दर्शन में प्रतिपादित किया गया है – "अनुकूल वेदनीयं सुखम्।" यह शरीर के आरोग्य एवं स्वतंत्रता का ज्ञापक है।

यहां पर आरोग्य और अनारोग्य को क्रमशः अनुकूल वेदना और प्रतिकूल वेदना बतलाया गया है। ये दोनों ही वेदनाएं हमारे पूर्वोपार्जित कर्मो के परिणाम स्वरूप अनुभव में आती है, अतः पूर्णतः कर्माधीन है। अनुकूल वेदना रूप जो सुख बतलाया गया है वही वस्तुतः आरोग्य मूलक है तथा प्रतिकूल वेदना रूप जो दुःख बतलाया गया है वह विकार (रोग) मूलक होता है, क्योकि उसका सीधा संबंध धातुओं (दोष–धातु–मलों) के साम्य और वैषम्य से होता है। चाहे सुख रूप आरोग्य हो अथवा दुःख रूप विकार या रोग हो उसकी उत्पत्ति में मूल कारण हमारे द्वारा पूर्व में उपार्जित शुभाशुभ कर्म हैं, जैसा कि शास्त्र में स्पष्टतः प्रतिपादित है –

सहेतुकास्सर्व विकारजातास्तेषां विवेको गुणमुख्यभेदात्।
हेतुः पुनः पूर्वकृतं स्वकर्म ततः परे तस्य विशेषणानि।।।

अर्थात् शरीर में समस्त विकार (रोग) सहेतुक (सकारण) होते हैं। उन हेतुओं को जानने के लिए गौण और मुख्य विवक्षा विवेक से काम लेने की जरूरत है। अतः समस्त विकारों का मूल कारण हमारे द्वारा पूर्व में किए गए स्वकर्म हैं। शेष सब उसके विशेषण हैं अर्थात् गौण कारण हैं।

आगे भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए आचार्य प्रवर द्वारा प्रतिपादित किया गया हैं।

न भूतकोपान्नच दोषकोपान्न चैव सांवत्सारिकोपरिष्टात्।
ग्रहप्रकोपात्प्रभवन्ति रोगाः कर्मोदयोदीरण भावतस्ते।।

अर्थात् न तो भूतों (पृथ्वी आदि पंच महाभूतों) के प्रकोप से और नहीं दोषों के कोप से रोग उत्पन्न होते हैं। वर्ष के खराब होने और मंगल आदि ग्रहों के प्रकोप से भी रोगों की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु कर्मों के उदय एवं उदीरणा से रोग उत्पन्न होते हैं।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि पंच महाभूत और शरीर (आत्मा) को समवाय ही यह पुरूष है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य का यह शरीर पंचमहाभूतों के समवाय से बना है, अतः यह भौतिक है। आयुर्वेद के अनुसार संसार के समस्त पदार्थ पांच भौतिक हैं और जो भौतिक होता है वह जड़ होता है। इस प्रकार मनुष्य का यह शरीर भी भौतिक होने से जड़ हैं। इसके साथ जब चेतन (आत्मा) का संयोग होता है तो यह शरीर सजीव हो जाता है। यही भाव व्यक्त करते हुए महर्षि चरक ने कहा है "षड् धातवः समुदिताः पुरूष इति शब्द लभन्ते, तथा पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्मं चाव्यक्तमिति, एत एव च षड्धातवः "पुरूष" इति शब्दं लभन्ते।

छह धातुएं मिलकर "पुरूष" शब्द को प्राप्त करती हैं। जैसे पृथ्वी जल, तेज, वायु, आकाश और अव्यक्त ब्रह्म। ये ही छह धातुएं मिलकर "पुरूष" इस संज्ञा को प्राप्त करती हैं।

आयुर्वेद के अनुसार इस सम्पूर्ण सृष्टि क्रम के संचालन के लिए मात्र पांच भौतिक शरीर ही पर्याप्त नहीं हैं, इसके साथ मन का संयोग भी आवश्यक है, तब ही उसकी पूर्णता है और वही लोक संज्ञा को प्राप्त होता है। इस विषय मे महर्षि चरक द्वारा निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है।

सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्रसर्व प्रतिष्ठितम्।।

तिपाई के तीन दण्ड के समान सत्व, आत्मा और शरीर हैं। इनके संयोग से यह लोक अर्थात् सजीव सृष्टि अवस्थित है और इसी में सब कुछ अवस्थित है। इस प्रकार सत्व, आत्मा और शरीर इन तीनों के संयोग से जिस चेतन पुरूष का समुद्भाव होता है वही चेतन पुरूष इस आयुर्वेद शास्त्र का अधिकरण (चिकित्सा का विषय) है। इसी सत्वादि विशिष्ट पुरूष (लोक) के लिए यह आयुर्वेद शास्त्र प्रकाशित किया गया है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि यह सम्पूर्ण चराचर जगत् जड़ और चेतन का संयोग रूप परिणाम है। यदि जड़ (भौतिक शरीर) और चेतन (आत्मा) का संयोग नहीं हो तो इस सृष्टि का यह क्रम संचालित होना सम्भव नहीं हैं। सृष्टि का यह क्रम (उत्पत्ति, स्थिति और विनाश) अनादि काल से अनवरत रूप से चला आ रहा

है और अनन्त काल तक इसी प्रकार चलता रहेगा। ऐसा क्यों हैं? इस प्रश्न का उत्तर खोजने का जब प्रयत्न किया गया तो ज्ञात हुआ कि इसके मूल में है आत्मा द्वारा विभिन्न योनियों में धारण किए गए शरीर के माध्यम से किए गए शुभाशुभ कर्म।

विभिन्न योनियों में तदनुरूप शरीर को धारण करने वाला यह आत्मा जो भी अच्छा या बुरा कर्म करता है उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। उसके द्वारा किए गए विभिन्न प्रकार के कर्मों के अनुरूप ही विभिन्न गतियों में होने वाले जन्म मरण, सुख–दुख, आरोग्य–अनारोग्य आदि का निर्धारण होता है। विभिन्न रोगों का उत्पन्न होना और तज्जनित कष्ट भोगना भी कर्म जनित ही हैं। सभी धर्मो एवं दर्शन शास्त्रों ने इस तथ्य को एक स्वर से स्वीकार किया है कि शरीरधारी यह जीव या आत्मा जैसा कर्म करता तदनुरूप फल ही वह जन्म जन्मान्तर में भोगता रहता है। विभिन्न शुभाशुभ कर्म करने और तदनुरूप फल भोगने का यह क्रम अनवरत रूप से चलता रहता हैं। कर्मो का वह फल द्विविध रूप होता है। सुख रूप और दुःख रूप। शरीर में विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होना और उनके कारण विभिन्न कष्टों को भोगना भी कर्मो का ही प्रतिफल है। जब तक कर्मोदय अथवा उदय में आए हुए कर्म का प्रभाव रहता है तब तक उसके परिणम या फल स्वरूप उत्पन्न हुए रोग और तज्जनित कष्ट अवश्य होता है।

आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार भी मनुष्यों के शरीर में होने वाले विभिन्न रोगों का बाह्य कारण यद्यपि वात–पित्त–कफ इन तीनों दोषों की विषमता है जो मिथ्या आहार विहार के कारण होती है, किन्तु मूल कारण पूर्वजन्म कृत अशुभ कर्मों का फल है। कुष्ठ जैसे महारोग की उत्पत्ति में तो निश्चय ही पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म की प्रधानता होती है ऐसी स्थिति में तो जब तक प्राक्तन कर्म का भोग पूर्ण नहीं हो जाता है तब तक रोगी को व्याधिजन्य कष्ट भोगना ही पड़ता है। इस सन्दर्भ में महर्षि चरक का यह कथन निश्चय ही महत्वपूर्ण है।

निर्दिष्टं दैव शब्देन कर्म यत्पोर्वदेहिकम्।
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते।।
न हि कर्म महत् किंचित् फलं यस्य न भुज्यते।
क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्।।

अर्थात् देव शब्द से पूर्व जन्मकृत जो कर्म बतलाया गया है वही कर्म काल परिणाम वशाद् (परिपाक काल में) रोगों के कारण के रूप में उपलब्ध होता है। संसार में ऐसा कोई महत् कर्म नहीं हैं जिसका फल नहीं भोगा जाता हो। पूर्व जन्म कृत कर्म से उत्पन्न होने वाले रोग सभी प्रकार की चिकित्सा को निष्फल कर देते हैं। वे रोग

तो उन कर्मों का क्षय होने से ही शान्त होते हैं।

इसके अतिरिक्त यह एक सामान्य सी बात है कि जब हम किसी रोग की चिकित्सा करने के लिए उद्यत होते हैं तो रोग की चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व प्रथमतः उसका निदान (जांच–परीक्षण) करना आवश्यक होता है। निदान की प्रक्रिया के अन्तर्गत रोग का मूल कारण और उसकी प्रकृति को जाना जाता है। रोग का निदान भी सामान्यतः दो प्रकार का होता है– सामान्य निदान और विशिष्ट निदान। प्रथमतः सामान्य निदान की दृष्टि से रोग के सामान्य कारणों को जाना समझा जाय।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है हमारे शरीर में कोई भी रोग उत्पन्न होना वैकारिक स्थिति है जो कष्ट कारक या दुःखदायी होती है। इसे ही प्रतिकूल वेदना रूप कहा जाता है। इसका मूल कारण होता है अशुभ कर्म जो अविद्या अथवा अज्ञान की परिणति है। इसे ही मिथ्यात्व कहा जाता है। मिथ्यात्व इस रूप में कि सांसारिक विषयों में उलझ कर हम अपने हिताहित विवेक को खोकर शत्रु और मित्र की पहचान पाने में असमर्थ हैं। यही कारण है कि हम अपने शत्रु को मित्र और मित्र को शत्रु समझ कर तद्वत् व्यवहार करने लग जाते हैं। कर्म हमारा शत्रु है जो न केवल सर्व रोगों का, दुःखों का, कष्ट का कारण हैं अपितु पुनःपुनःजन्म मरण कराने वाला संसार भ्रमण का कारण है। उस कर्म को हम अपना हितैषी मानकर पूर्ण रूप से उसकी सेवा सुश्रुषा मे संलग्न है। इसके विपरीत रोग का समूल नाश करने वाले जो जानकार वैद्य हैं उनसे हम दूर भागे हुए हैं। परिणाम स्वरूप रोग हम पर हावी हैं और हमारे पास उसका कोई उपाय नहीं हैं।

इन्द्रियां और मन हमारे शरीर में यद्यपि ज्ञान प्राप्त करने के साधन हैं, किन्तु अहित विषयों में जब इनकी प्रवृत्ति होती है तो उससे शरीर में वैकारिक स्थिति उत्पन्न होकर रोग की उत्पत्ति तो होती ही हैं, आत्मा पर भी कर्मवर्गणाएं अपनी स्थिति सुदृढ़ करती जाती है जो किसी न किसी रूप में रोग की उत्पत्ति में कारण भूत होती हैं। इस विषय में रोग की उत्पत्ति तथा आरोग्य के सम्पादन के विषय में महर्षिचरक का निम्न कथन भी महत्वपूर्ण है –

"इत्यसात्म्येन्द्रियार्थ संयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति त्रयस्त्रिविधविकल्पा हेतवो विकाराणां समयोगयुक्तास्तु प्रकृतिहेतवो भवन्ति।"

इस प्रकार इन्द्रियों (पांचों ज्ञानेन्द्रियों) और अर्थ (उनके विषय चक्षु–देखना, श्रोत्र–सुनना, त्वक्–स्पर्शन जिव्हा–रस, घ्राण–सूंघना) का असात्म्य संयोग प्रज्ञापराध और परिणाम इन तीनों के तीन–तीन विकल्प रोगों (विकारों) के कारण है।

इनका समयोग होना प्रकृति (आरोग्य) में कारण है।

यह कथन पूर्वोक्त काल–अर्थ कर्म के हीन मिथ्या अतियोग को करता है। प्रस्तुत कथन में प्रयुक्त प्रज्ञापराध और परिणाम क्रमशः कर्म और काल का बोध कराते हैं। प्रज्ञापराध के विषय में निम्न आर्षवचन महत्वपूर्ण हैं।

धीधृतिस्मृति विभ्रष्टः कर्मयत् कुरूतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोष प्रकोपणम्।।

बुद्धि, धृति (धैर्य) और स्मृति की विकृति के वशीभूत मनुष्य जो अशुभ (अपने प्रतिकूल) कर्म करता है उसे प्रज्ञापराध समझना चाहिए। वह (प्रज्ञापराध) समस्त दोषों (रोगों) का प्रकोप (उत्पन्न) करता है।

इस प्रकार असाप्येन्द्रियार्थ संयोग के अतिरिक्त प्रज्ञापराध भी रोग की उत्पत्ति का कारण होता है जो मुख्यतः कर्म प्रधान है। बुद्धिविभ्रम या बुद्धि की अविकसित स्थिति, धृतिविभ्रम और स्मृतिविभ्रम या स्मृति नाश के कारण जो मानसिक अथवा शारीरिक विकार उत्पन्न होते हैं वे अशुभ कर्मजनित होते हैं। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि विभिन्न रोगों की उत्पत्ति में अशुभ कर्म ही कारण होते हैं। सामान्यतः यह भी देखा गया है कि रोगोत्पत्ति होने पर जब उनका उपचार या चिकित्सा की जाती है तो अनेक प्रयत्न करने पर भी किसी रोग का शमन नहीं हो पाता है अथवा रोग का शमन होने मे अधिक समय लगता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस अशुभ कर्म का उदय होने से रोग का प्रादुर्भाव हुआ है जब तक उस कर्म का विपाक या निर्जरा नहीं हो जाती है तब तक रोग की शान्ति नहीं हो पाती है। प्राण वायु चिकित्सा विज्ञान के अनुसार रोगों की उत्पत्ति का हेतु पूर्व जन्मकृत स्वकर्म होते हैं। अतः उन कर्मो का उपशमन होना ही रोगों की चिकित्सा है। इसका समर्थन श्रीमत् उग्रादित्याचार्य ने निम्न प्रकार से किया है।

तस्मात्स्वकर्मोपशम क्रियायां
व्याधि प्रशांति प्रवदन्तितज्ज्ञाः।
स्वकर्मपाको द्विविधो यथावद्
उपायकालक्रमभेद भिन्नः।।

तज्ज्ञ (चिकित्सा शास्त्र के ज्ञाता) स्वकर्म (पूर्व जन्मोपार्जित अशुभ कर्म) के उपशम की क्रिया को रोग का शमन करने वाली क्रिया (चिकित्सा) कहते हैं। स्वकर्म पाक (अपने कर्मो का पकना) दो प्रकार से होता है एक यथा काल पकना और दूसरा उपाय के द्वारा उसे पकाना।

इसे ही और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री ने आगे कहा है–

उपायपाको वरघोरवीर
तपप्रकारैस्सुविशुद्धमार्गैः।
सद्यः फलं यच्छतिकालपाकः।
कालान्तराद्यः स्वयमेव दद्यात्॥

अत्यन्त घोरवीर विभिन्न प्रकार के तपों आदि विशुद्ध उपायों से कर्म को बलात् (कर्म का उदयकाल नहीं होते हुए भी) उदय में लाना – उपाय पाक कहलाता है। इससे उसी समय पूर्वजन्मकृम कर्मों का फल मिलने लगता है। कालान्तर में यथा समय (अपने आयुष्यावसान में) कर्म स्वयं उदय में आकर (पककर), अपना फल देते हैं – यह काल पाक है।

यथा तरूणां फलपाकयोगो मतिप्रगल्भैः पुरूषैर्विधेयः॥
तथा चिकित्सा प्रविभागकाले दोषप्रपाको द्विविधः प्रसिद्धः॥

जिस प्रकार वृक्ष के फल स्वयं भी पकते हैं और बुद्धिमान मनुष्य उन्हें विभिन्न उपायों द्वारा भी पकाते हैं। उसी प्रकार प्रकुपित दोष भी उपाय (चिकित्सा) और काल क्रम दोनों प्रकार से पकते हैं।

आयुर्वेद के अनुसार शरीर में विभिन्न रोगों का उद्भव मिथ्या आहार–विहार और तज्जनित दोषों (वात–पित्त–कफ) के क्षय का प्रकोप से होता है। इसके साथ ही मनुष्य के द्वारा पूर्व जन्म में किए गए पाप (अशुभ) कर्म का उदय जब इस जन्म में होता है तो उस के परिणाम स्वरूप अन्यान्य कष्टों के अतिरिक्त रोगोत्पत्ति रूप कष्ट भी उसे होता है। अतः उस कष्ट का निवारण तब तक सम्भव नहीं हैं जब तक उस अशुभ कर्म का परिपाक होकर उसका क्षय नहीं हो जाता है। यह सुनिश्चित है कि धर्माचरण के द्वारा अशुभ कर्म या पाप का शमन होता है। अतः पापकर्मजनित रोग का शमन धर्म से ही सम्भव है। यही भाव श्री उग्रादित्याचार्य द्वारा निम्न प्रकार से व्यक्त किया है।

सर्वात्मना धर्मपरो नरःस्यातमाशु सर्व समुपैति सौख्यम्।
पापोदयात्ते प्रभवन्ति रोगा धर्माच्च पापाः प्रतिपक्षभावात्॥
नश्यन्ति सर्वे प्रतिपक्षयोगाद्विनाशमायान्ति किमत्रचित्रम ?

जो मनुष्य सर्वप्रकार से धर्म परायण रहता है उसे शीघ्र ही सभी प्रकार से सुख प्राप्त होते हैं। पाप के उदय से विविध रोग उत्पन्न होते हैं तथा पाप और धर्म के परस्पर विरोधी भाव होने से धर्म (के प्रभाव) से पाप का नाश होता है। प्रतिपक्ष की प्रबलता होने से यदि रोग के समूह विनाश को प्राप्त होते हैं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

धर्म के प्रभाव से पापरूप रोग का जो नाश होता है उसमें धर्म तो वस्तुतः आभ्यन्तर कारण होता है और बाह्य कारण के रूप में प्रयुक्त औषधोपचार को ही चिकित्सा कहा जाता है जबकि आभ्यन्तर कारण के रूप में सेवित धर्म को धर्माचरण ही माना जाता है। किन्तु चिकित्सा के अन्तर्गत धर्म का भी उल्लेख होने से उसे सात्विक चिकित्सा के रूप में स्वीकार किया गया है। रोगोपशमनार्थ बाह्य और आभ्यन्तर चिकित्सा के रूप में धर्म आदि की कारणता का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है –

धर्मस्तथाभ्यन्तरकारणं स्याद्रोगप्रशान्त्यै सहकारीपूरम्।
बाह्यं विधानं प्रतिपाद्यतेऽत्र चिकित्सितं सर्वामहोयात्म॥

रोगों की शान्ति के लिए धर्म आभ्यन्तर कारण होता है जबकि बाह्य चिकित्सा सहकारी पूरक कारण होता है। अतः सम्पूर्ण चिकित्सा बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की होती है।

यहाँ यह स्पष्ट है कि धर्म रूप चिकित्सा के द्वारा जो रोग का उपशमन होता है उसका कारण यह है कि धर्माचरण या धार्मिक क्रिया कलाप के द्वारा अशुभ कर्मों का उपशम या क्षय होता है जिसके परिणाम स्वरूप रोग और तज्जनित कष्ट का निवारण होता है सामान्यतः देखा गया है कि एक परिवार में जितने भी सदस्य होते हैं उनके स्वभाव, प्रकृति, शारीरिक ढांचा, शारीरिक मानसिक बल, रूचि आदि में पर्याप्त भिन्नता होती हैं। घर में उन सब को यद्यपि समान आहार आदि मिलता है, फिर भी उनमें से कोई कभी और कोई कभी बीमार होता है और कोई बिल्कुल भी बीमार नहीं पड़ता है। कोई उदर विकार या ज्वर से पीड़ित होता है तो कोई श्वास–कास आदि कफज विकारों से। कोई–कोई शिशुओं–बालकों को भी अस्वस्थ होते हुए देखा गया है जो कोई मिथ्या आहार विहार नहीं करते। पूर्णतः माता–पिता के आश्रित बालकों को अस्वस्थ होना यद्यपि किसी न किसी बाह्य कारण की अपेक्षा रखता है, तथापि उसमें अन्तः कारण के रूप में अशुभ कर्म का उदय ही मुख्य है।

हमारे शरीर में या तो आरोग्य होता है अथवा विकार। दोनों एक साथ हों यह सम्भव नहीं हैं। आरोग्य जहां शरीर के लिए सुख कारक होता हैं वहीं विकार दुःखकारक अवस्था है। धर्मशास्त्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि अनुकूल वेदना रूप जो सुख होता है वह सातावेदनीय कर्म का उदय होने पर अनुभव में आता है। शुभ कर्म को ही साता वेदनीय कर्म कहा जाता है। यावत्काल इस साता वेदनीय कर्म का उदय रहता है तब तक ही सुख का अनुभव होता है, कर्म के क्षीण होने पर सुख भी क्षीण हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि वह स्थायी नहीं होता है और जो स्थायी

नहीं होता है वह यथार्थ सुख नहीं हैं, अपितु सुख का आभास है। इन्द्रिय जन्य विषय सुख विद्युत के प्रकाश की भांति विनश्वर है। इसी भांति असातावेदनीय (अशुभ) कर्म का उदय दुःख का अनुभव कराता है जो प्रतिकूल वेदना रूप या विकार रूप होता है। चाहे अनुकूल वेदना हो या प्रतिकूल वेदन (दुःख) हो वह आत्मा को मलिन करने वाला शुभाशुभ कर्म रूप विकार भाव ही है। उस विकार भाव से आत्म को मुक्त करा कर उसे निजस्वरूप में स्थापित करना ही अध्यात्म शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है।

भारतीय दर्शन शास्त्र में आत्मा की कर्मों से मुक्ति के लिए गहराई से अनुचिंतन किया गया हैं। जहां आत्मा की मुक्ति के लिए चिन्तन हो वहां कर्म के विषय में चिन्तन नहीं हो – यह सम्भव नहीं हैं। क्योंकि कर्म ही तो आत्मा को बन्धन युक्त करते हैं और उन्हीं शुभाशुभ कर्मों से आत्मा को मुक्त कराना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। भारतीय दर्शन शास्त्र एवं अध्यात्म शास्त्र को भी यही अभीष्ट है। आयुर्वेद शास्त्र में भी आत्मा की मुक्ति के लिए कर्मों का क्षय होना आवश्यक बतलाया गया है जैसा कि महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित है। –

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्म संक्षयात्।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते।।

अर्थात् मन के दोनों दोष रज और तम का अभाव होने से बलवान कर्मों का क्षय होने से तथा सभी प्रकार के संयोग (कर्म संयोग अथवा कालार्थ कर्म योग) का वियोग होने से जिस स्थिति का निर्माण हेाता है उसे मोक्ष कहते हैं।

यहां पर आत्मा की मुक्ति हेतु सर्वप्रथम रज और तम का अभाव होना बतलाया गया है आयुर्वेद शास्त्र में रज और तम को मानस दोष बतलाया गया है। यथा–

वायु पित्तं कफश्चेति शरीरोदोष संग्रहः।
मानसः पुनरूद्दिष्टः रजश्च तम एवं च।।

वायु, पित्त और कफ ये तीन शरीर दोष हैं तथा रज और तम मानस दोष हैं का योगदान विशेष रूप से होता हैं। इसके अतिरिक्त समस्त प्रकार का चिन्तन, मनन संकल्प–विकल्प, प्रेरणादि मन ने द्वारा ही होती हैं जिससे समुत्पन्न शुभाशुभ कर्म आत्मा को बन्धन युक्त बनाते है। अतः बन्धन और मोक्ष दोनों में मन ही कारण है। महर्षि ने भी यही कहा है –

"मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।"

एक ओर मन जहां आत्मा के कर्म बन्धन का कारण है वहां दूसरी ओर वह तज्जनित दोष रज और तम विभिन्न उन्माद अपस्मार आदि मानस रोगों एवं अन्य

मनोविकारों की उत्पत्ति में भी कारण हैं। इसीलिए रोगों का वर्गीकरण करते हुए शारीरिक और मानसिक रोग के रूप में दो प्रकार से विभाजित किया गया है। यही बात आरोग्य के विषय में भी लागू होती है अर्थात् शारीरिक आरोग्य और मानसिक आरोग्य अनारोग्य (विकार या रोग) भी द्विविध रूप ही होता है – शारीरिक रोग और मानसिक रोग (विकार) जो दो प्रकार का आरोग्य बतलाया गया है उस द्विविध आरोग्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उत्तम मूल (कारण) माना गया है, जैसा कि धर्मशास्त्र में प्रतिपादित है –

धर्मार्थ काममोक्षाणामारोग्य मूल मुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।।

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उत्तम मूल (कारण) आरोग्य है। रोग उस आरोग्य, श्रेयस् और जीवन के अपहर्ता (नाश करने वाले) होते हैं।

आयुर्वेद के अनुसार रोग और आरोग्य का मूल कारण काल – अर्थ (इन्द्रियों के विषय) और कर्म का हीन मिथ्या एवं अतियोग होना जैसा महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित किया गया।

कालार्थ कर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः।
सम्यग् योगश्च विज्ञेयो रोगापोग्वैक कारणम्।।

अर्थात् काल (समय), अर्थ (इन्द्रियों के विषय) और कर्म (मनुष्य के द्वारा किए जाने वाले कर्म) का हीनयोग, मिथ्या (विपरीत योग) और अतियोग होना रोग का कारण होता है। इसके विपरीत इनका सम्यक् योग होना आरोग्य का कारण समझना चाहिये।

यहां पर काल से अभिप्राय समय से है जो षड् ऋतुओं में विभाजित है– वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म। इनका हीन योग, अति योग एवं मिथ्या योग होना। इन्द्रियार्थ से अभिप्राय पांचों इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए जाने वाले विषयों से है। इन्द्रियों के द्वारा अपने विषयों का अल्प रूप में ग्रहण किया जाना, अधिक रूप में ग्रहण या सेवन किया जाना, विषम या प्रतिकूल रूप में ग्रहण या सेवन किया जाना क्रमशः हीन योग, अतियोग एवं मिथ्या योग के अन्तर्गत परिगणित हैं। कर्म से अभिप्राय मनो, वाक्, काय की प्रवृति से है अर्थात् मन, वचन और काय की क्रिया को कर्म कहा जाता है। कर्म का हीनयोग, अतियोग और मिथ्यायोग रोग का कारण होता है। इसके विपरीत कर्म का सम्यक् योग या समयोग होना आरोग्य का कारण है।

The Jaina Doctrine of Karma and Neuroscience

Rashmikumar J. Zaveri
B. *Com., B.A., F.G.A.,* MA. *(Jainology)*

1. THE ESSENCE OF THE JAINA DOCTRINE OF KARMA:

Karma, in Jainism, is defined in the Illwninator of Jain Tenets as *''Atmapravrttiyakrstastatprayogya - pudgalah karma"*

Material aggregates attracted by the activities of the soul and fit for it (that is, for being transformed into different varieties of *Karman)* are called *Karman. 'Karma'* or *'Karman'* has a unique connotation in Jainism. It is not understood as a 'deed' or an activity as commonly known.

According to Jainism, there are a series of material aggregates which posses the potentiality of getting transformed into *Karman.* They constitute the *Karma-vargana* bodies (a kind of group of atoms). *Karma-vargalnais* possessed of infinite space points *(anantapradesinah)* and four kinds of touch- cold, hot, viscous and dry. These bodies are attracted by the soul on account of its good or evil activities; they are called *'Karman'* (i.e. *Karmic* matter). In common parlance, such activity is itself designated as *'Karma* '.

The above definition refers to the *Karmic* matter attracted by the activity of the soul, which is called *dravya karma. 'Bhava karma'* is identical with the activity (itself) of the soul. Every activity of the mundane soul is under the influence of the good or evil predispositions. This in turn, is the result *of udaya* (rise) of the past *karma.*

In this connection an analysis of the functioning of the soul in respect of worldly activities is felt necessary. The ultimate source of any activity, whether of mind or speech or body, is fundamentally due to the rise of *nama karman* and the subsidence-cum-destruction or destruction of the *viryantaraya karman,* and the rise or subsidence/destruction/subsidencecum-destruction of the *mohaniya karman.* The rise of the *nama karman* is, in a sense, invariably necessary for the materialization of activity, though it is only an auxiliary condition, and not as fundamental as the rise etc. of *mohaniya* and *antaraya karman.* Thus,

while the *bhava karman* relates to the soul itself, the *dravya karman* is identical with the *karmic* bodies attracted on account of the three-fold activity (which is also called karman) that originate from the soul qua *bhava karman.*

According to Jainism, the whole world of living beings exist from beginningless time and the conditions of their career, good or bad, are not due to accident or chance or the arbitrary will of a despotic ruler of universe. They are what they are as the result of moral values of their own actions - good or bad.

1.1 SOUL AND *KARMA*:

The doctrine of karma is based on the self sufficiency or the cyclic nature of the system that the effect of the existing *karma (karmafala)* becomes the cause of the bondage of new karma (karmabandha). This vicious circle continues until the soul achieves Ultimate Release called Moksa.

The soul is an ever-changing real by its own nature and in the state of worldly existence, this change is determined by the nature of the *karmic* matter *(karma-pudgala)* that is associated with it. The nature of the associated *karmic* matter is determined by the nature of the passions *(kasayas)* of the soul and the nature of the passions is determined by the nature of *karmic* matter. This mutual determination has no beginning in time. The concrete and material *karman* is responsible for the multifold predispositions and tendencies (physical and mental), the aggressive and sexual urges and the possessive and other instincts that constitute the personality of the soul.

1.2 CAUSES OF BONDAGE:

Now let us examine the main causes of the bondage of *karma* with the soul. They are passions *(kasaya)* and the trinity of activities *(yoga)* - mental, vocal and physical. As per T.S., the five causes of bondage are:

a) deluded world-view *(mithyadarsana),*
b) non-abstinence *(avirti),*
c) laxity *(pramada)*
d) passions *(kasaya)* and
e) the actions of the body, speech and mind (yoga)

It states further that: "Because of its passions *(kasaya)* the soul attracts and assimilates the material particles of karmic bondage"

1.3 KARMA FALA:

As seen above, an important facet of *karmafala* (fruition of *karman)* is the bondage of new *karman.* The chief causative factors of the bondage are *kasaya* (which includes *Nokasaya)* and *Yoga* and both factors are the result or effect of the fruition of the existing *karman.* While 'attitude and behaviour' are the ultimate effects of the past, it is also the cause of the new bondage. Behaviour is constituted by three-fold activities - mental, vocal and muscular or thought, speech and bodily action. However, both speech and bodily actions are themselves regulated by thought (at least so far as humans are concerned). The speech is always preceded by thought and it is the human brain that produces language, love and aggression, pleasure and pain, happiness and grief, and much more positively come through the brain though not from it. We can thus study both the cause and the effect of *karman* by a critical study of (analyzing) how the brain works and controls the attitude and behaviour of a person and regulates his life.

2. NEUROSCIENCE

The science of the study of the brain is called Neuroscience. Anatomists, Physiologists, Biochemists, Neurologists, Psychologists and others are involved in continuous research of this wonderful super computer called brain.

2.1.1 BRAIN:

The brain is the most important organ of the body. The Noble prize winning physiologist Sir Charles Sherrington called it an 'enchanted 100m'. Hippocrates, the legendary father of medicine, declared - "Not only our pleasure, our joy and our laughter but also our sorrow, pain, grief and tears arise from the brain, with it we think and understand, see and hear and we discriminate between the ugly and the beautiful, between what is pleasant and what is unpleasant and between good and evil".

It is housed in the skull. It has two symmetrical parts called hemispheres the right and the left. They communicate through the corpus callosum situated deep within cerebral divide. The fore brain is called cerebral cortex and the hind one is called cerebellum. Wondrous alchemy is produced in the hypothalamus, which lies just beyond the midbrain-end. It synthesizes hormones to control growth, raise and lower temperature, regulate the body's water-balance and activate sexual behaviour. The hormones funnel into the pituitary gland below, where they are stored or released into the blood-steam. Nearby is the pineal gland- the vestige of a primitive third eye in fact, a light activated biological clock that regulates sex-gland activity.

The thalamus, at the top of the brainstem helps to regulate consciousness. Information from nearly every area of the body is relayed by it to the cerebrum above. The limbic system, composed of various parts, is the emotional brain.

Our passions and our drives are as much the brain's creations as are intellect and reason. The forces of fear, elation, grief, anger and lust arise from the most primitive region of the brain known as limbic system.

The limbic system works with the both cerebrum above and the brainstem below. While connections of the limbic system with the cerebrum permit an interplay between reason and emotion, those with the brainstem help in maintaining a state of emotional balance and alertness. Generally, both of them work in harmony, but the balance can be easily upset. A highly activated limbic system can overwhelm rational thought, making a person speechless with fury or joy. Through conscious control, a person can resist the urge to eat or drink, fight back tears or suppress sexual desire.

2.1.2 COMPONENTS OF BRAIN:

Let us now briefly discuss a few important components of the brain, the first one being hypothalamus. Only the size of a thumb-tip, a cluster of nerve cells, called the hypothalamus, receives one of the richest blood supply in the entire body. It nestles between the thalamus above and brainstem below. Through its connection with the brainstem, hypothalamus maintains *homeostasis,* the body's internal equilibrium. It keeps body temperature constant at roughly 98.6 degrees. F. Hunger and thirst centers in it serve as the body's appestat. Hypothalamic disorders may cause compulsive eating or loss of interest in food. With this

sophisticated sensing system, the body constantly balances and replenishes itself. The hypothalamus controls growth and sexual behaviour through the pea-sized pituitary gland. When sensors detect a drop in hormones in the blood stream it commands the pituitary to step up production and the latter responds by organizing the endocrine gland's release into the blood. It is a delicate system of reciprocity. The hypothalamus also co-ordinates the "fight or flight" reaction in times of emergency. It organizes a chain reaction of defenses with a single aim, to put the body in top physical condition to cope with the emergency. Under the command of the pituitary gland, adrenals spew out *adrenalin* and *nor adrenalin,* the heart beats faster, blood pressure and blood sugar rises to supply maximum energy and the breathing becomes faster. It possesses a special chemical control system that act as neurotransmitter through which it produces natural painkillers similar to morphine to cope with pain.

2.1.3 NEURAL DISORDERS:

Neuroscientists have made tremendous progress in the filed of neural disorders. They include computerized axial tomography (CAT), nuclear magnetic resonance imaging *(NMR* MRI), positron emission trans axial tomography (PETT), etc. The treatment of the brain-disorders include neurosurgery, microsurgery, etc.

But apart from these neuro-surgery techniques, there are alternative remedies also like meditation, value-added meditation, anupreksa, positive thinking, hypnotism, autosuggestion, etc. These techniques of psychoneuroimmunology show that systematic pursuit of salutary emotions alleviates chronic pain and retard degenerative diseases.

2.2. BRAIN, MIND, CITTA and MANAH:

When we discuss the doctrine of *karma* and neuroscience, we must clearly understand the meaning assigned to the terms - 'Brain and Mind', 'Soul and Consciousness', *'Citta* and *Manah'.*

As far as neuroscience is concerned, the term used is 'brain' which, as stated earlier, is a physical organ. 'Mind' is referred to as an entity comprising the operation of the brain during the periods of awareness. It has no physical attributes. 'Consciousness' is the state of awareness as distinguished from 'unconsciousness'. Thus conscious experience is entirely dependent upon the activity of the brain.

But who experiences this consciousness? Who is the 'Knower'? Neuroscience has still not accepted the 'knower' or the 'soul' as an eternal non-physical entity. In Jainism, of course, the soul *(atma)* is an independent, eternal, non-physical substance - it is the ultimate knower. The soul is never bereft of consciousness.

2.2.1 MANAH:

In Jainism, the 'mind' or *'manah'* is responsible for the mental activity as distinguished ftom vocal and physical activity. All these three activities are controlled by *'citta' (chaitanya),* which is the psychic component of the soul animating the physical body including the brain. *'Manah'* has two functions - conceiving and perceiving.

Manah is defined in ITJ - *"Sarvarthagrahi traimlikam manah"*

The mind is the organ of apprehensive of all objects (of all sense-organs) of the three periods of time. It is also called *'anindriya'.*

The worldly souls fall into two groups, souls that posses a mind and souls that do not.

Only souls that possess a mind have the power of thought. Souls, which are said to have a mind, are those with both a psychic and physical mind. Those with a psychic mind but no physical mind are said to be without a mind. The psychic mind is attributed to the partial elimination and partial suppression of the *karma,* which obscures articulate knowledge. In modem parlance, the physical mind is the brain and the psychic mind is the capacity and activity of the brain. However, in the Jaina view it is psychic mind that creates the physical mind, not vice versa. Furthermore, the physical mind is made of very subtle matter.

3.0 CHARACTERISTICS OF A LIVING ORGANISM

3.0.1 SCIENTIFIC VIEW:

According to biology, living organism is qualitatively distinct ftom the non-living matter. Functioning of the former is governed by

some unique biological laws. The essence of living organism is the set of principles determining the transmission of genetic information from one generation to the next.

Living organisms are composed of the same constituents as the rest of the earth, but it possesses, besides ftee will, which is the characteristics of life, all of the following attributes: organization, excitability, conductivity, contractility, metabolism, growth and reproduction.

3.0.2 JAIN VIEW:

As per Jainism, in respect of mundane souls, animation (i.e. life) is caused by the unity of a nonphysical entity called SOUL or spirit with a material body. *Jiva* or soul is defined in IJT as *"upayogalaksanjivah"*. The defining characteristics of a soul is consciousness or cognitive. activity. *'Upayoga',in* turn, is defined as *"cetanavyapara upayogah"*. Consciousness is the cognitive activity of sentience. Sentience consists of knowledge and intuition. Consciousness is the activity, that is, the application of the sentience.

Aayaro has described the liberated soul in *'paramappa-padam'* - "savve sara niyattamti" (Chapter V, section VI -123). All voices get reflected, (i.e. fail to reach there). It is impossible to express the nature of the immaculate soul. In words, it is beyond the grasp of logic *(tarka)* (V, VI -124). Intellect *(mail)* fails to grasp it (V-VI, 125). It is one and alone, bodyless and the knower (V, VI-126). It is immaculate knowledge and intuition i.e. it is consciousness and nothing but consciousness (V, VI - 136). There is no similie for it (137). It is the formless existence (138). There is no terminology or words to describe or comprehend it.

3.1 Basic Bioloeical Principles – HOMEOSTATIS

According to biology, living organism is qualitatively distinct from the non-living matter. Functioning of the former is governed by some unique biological laws. The essence of living organism is the set of principles determining the transmission of genetic information from one generation to the next.

Living organisms are composed of the same constituents as the rest of the earth, but it possesses, besides free will, which is the characteristics of life, all of the following attributes: organization, excitabil-

ity, conductivity, contractility, metabolism, growth and reproduction. The process of self-maintenance is called homeostatis. It is not a static condition but a dynamic equilibrium. In most parts of the body, there is a rapid turnover in many tissues and even the cells themselves are continually replaced by. new ones. And yet, as all these integrity of the whole organism is preserved. Thus the process of homeostasis, which consists, as it were, ofa continual death and rebirth, is the essential property of life. A vital force or vitality is the principle at work, which prevents the dissolution of the body inspite of continual expending of energy. End of vitality results in death.

3.2 SURVIVAL:

Living involves using information to make choices between alternative, with the aim of achieving the goal of continuation of life. Every organism carries in its DNA, the instructions for doing this by dealing with various eventualities that my arise. Life continues because organisms make repeated choices among previously established sets of possible alternative actions. The very essence of living is the presence of varied possibilities of actions allowing selection of those that ensure survival.

3.2.1 Scientific Primal Drives / *SnminaS* and the Doctrine of *Karma.*

Every living organism achieves its goal of survival by efficiently using the inbuilt sets of instructions. These instructions are supplied by *"nama karma* and *ayu.sya karma* which provide suitable reference standards or *samjn as* (unlearned instincts) for every category of organism. In humans, the pattern of nerve cells of the hypothalamus of the brain are the physical embodiments of fundamental standards. The patterns of human actions are set originally during embryonic development under the control of DNA which is itself is partly inherited and partly *karmic.* These reference standards are the primal drives or the unlearned instincts. Throughout life, they generate wants and desires, influence hunger and satiety, longings and satisfactions, love and hate, revulsions and fears.

Throughout life, the genes continue giving instructions to the cells as to how to select the right chemical action to fare the eventualities that are likely to cause the body to disintegrate. The information is

embodied in an enormous long string that we describe as genetic code, provided by the sequences of three nucleotide bases. The reference standards in our brains influence our wants and desires, our satisfaction and revulsions, our longings and our fears. The causes of actions of a given man will include not only all the above variables but also his free will.

3.2.2 . The reasoning mind distinguishes humans from other living creatures who pass their lives and perform all their activities almost entirely with the help of their unlearned instincts, also known as the primal drives. This is not to say that humans do not depend on their unlearned instincts; they very much do. In fact, every living creature including man, for the sake of its own survival, has four fundamental primal drives - hunger, reproduction, fear and possession.

They are refereed to as *Samjnas* in Jainism. Apart from the unlearned instincts, the humans develop several learned instincts because of their highly developed brain. The learning process begins with birth and continues till death. During this process, the reasoning mind forms new records of learned instincts and rectifies the old ones at every stage of life. Anger, love, hatred, attachment, greed, angst, arrogance, etc., are examples of the feelings resulting from different combinations of various learned and unlearned instincts. These learned instincts are influenced mainly by hereditary records, community circumstances, geographical conditions, etc.

4. MODUS OPERANDI OF PROGRAMMES:

4.0.1 GENES / DNA / RNA:

A human begins his / her life as a single fertilized cell, with the union of a sperm from the father and ovum of the mother. This single cell contains a complete set of hereditary blueprints for producing functioning human beings. There are 23 chromosomes from each parent producing DNA Blue Print of 23 pairs, where all the messages are written in chemical language. The body intelligence, known as genetic units, is in the Nucleic Acids. The master plans are embedded in the DNA (Deoxyribonucleic acid) molecules. The working parts of the plans are passed on through several types of RNA (Ribonucleic acid) and ultimately into proteins.

4.0.2 KARMA

As stated earlier, the Jainas believe that every living organism in its mundane existence is an union of non-material soul *(Jiva)* and physical 'body. While the soul is indestructible and eternal, the physical body that contains it is impermanent and constantly undergoes changes. In this state, the soul is contaminated with *karma.* There are eight natural qualities of a pure or liberated soul. These natural qualities are veiled, vitiated, obscured or obstructed by eight types of karma as follows:

	Natural Quality of Soul	Types of karma affecting these qualities
1.	Omniscience (kevalajnana)	Knowledge obscuring karma (jnanavaraniya)
2.	Pure and perfect Intuition	Intuition - obscuring karma (darsanavaraniya)
3.	Complete truth - Total lack of delusion	Deluding karma (mohaniya)
4.	Infinite / endless spiritual energy	Energy obstructing karma (antaraya)
5.	Total freedom from wordly pleasures/pains/sufferings	Feeling- determining karma (vedaniya)
6.	Eternal unchanging existence - freedom from transmigration	Life span determining karma (ayuska)
7.	Complete formlessness	Body-determining karma (nama)
8.	Total freedom from high/low status	Rank/status determining karma (gotra)

The first four types cripple, reduce, distort, obstruct or destruct the innate qualities of the soul and hence they are called 'destroying *(ghati)* karmas. While the latter four types are known as the 'non-destoying' *(aghati)* karmas. The *ghati* karmas are also designated as *bijabandhana* (bandhana / bondage qua seed) as distinguished from the *aghati* karmas that have been designated *as falabandhna* (bandhana / bondage qua effect).

4.1 KARMA UDAYA AND KARMAFALA:

For discussing the interaction and chain reaction of the rise of karma *(udaya)* culminating into action, it is necessary to describe various states of *karma.*

4.1.1 According to Jainism, there are ten states of *karma.*

1.Bandha: Bondage is the assimilation of karmic matter by the soul. The mutual coalescence like the relation between milk and water is called bondage.

2 & 3 *Udvartana and Apavartana:* Augmentation (increase) and attenuation (decrease), respectively in the duration and intensity (productive capacity) of *karma.*

4. Satt;: Existence is the time of non-ftuition and persistence. It is also called *abadhakiila.*

5. Udaya: - Rise or realization is of two types - when the ftuit (effect) is experienced, it is a case of realization of ftuit, which is called *vipakodayah.* The experience of the (innocuous) space points (of the *Karmika* matter) only is called realization of the space points, which is known as pradesodyah. The latter realization is only virtual and not facutual.

6. Udirana: Premature realization or rise before the pre-determined fixed time. It presupposes the operation of attenuation *(apavartana).*

7. Samkramana: This is known as transference. It is the mutual transformation of the subtypes belonging to the same genus *(SajatiTya-prakrti).* This state is of great importance in the study of neuroscience, psychology as well as psychiatric treatment. For example, by deep meditation and practicing technique of auto-suggestion, one can transform *asatavedinya* into *satavedinya.*

8. Upasamah: The subsidence is the process which renders *deluding-karma (mohaniay)* unfit for self-realization, pre-mature realization and *nidhatti* and *nikacana.*

9. Nidhattih: It is the state which makes the deluding karma incapable of all the above processes except augmentation *(udvaritana)* and attenuation *(apavartana).*

10. Nikacana: The condition which renders *karmic* mater incapable of all these operation is called nikacana. Here, the *karma* is all powerful and will not fail in ftuition. In the yoga school, it is known as *niyata-vipaka.*

Out of these ten states, eight are designated by the term *'karana'* meaning 'operation'.

4.2 Now let us see the *Modus Operandi* of the Psychophysical System:

I - SUBTLE BODY

4.2.1 Karma Sarira - Micro body - Rise *(Udva)* of *Karma:*

The psychophysical system is the union of soul and matter that constitutes the existence of *jiva* in its mundane state. The pure psychic energies, which radiated from the soul, interact with the *karmic* matter that vitiates its purity. Different species of *karma* obscure and distort the different qualities of the psychic energy.

4.2.2 Adhyavasaya - Field of Primal Drives:

Depending on the quality, quantity and the intensity of the *karmas,* and the outer circumstance or stimulus *(nimitta),* their ftuition produce the corresponding subtlemost primal *psycho-karmic* expressions called *adhyavasayas.*

4.2.3 Lesya Tantra: The filed of *Liaison* – AURA

These energy vibrations *(adhyavasayas)* are transformed into electromagnetic waves known as *lesyas.* It is a media body, which translates the deeper level messages into energy fields around the body known as aura *(abha-mandal).*

4.2.4 Bhava Tantra: Urges and Impulses

Urges and impulses, the precursors of the emotions, are not produced either by brain or by endocrine. In fact, there are forces more subtle than those found in the physical body. They are produced in the microbody *(karmana sarira)* as a result of rise of the bonded. *Karman (karmafala).* Thus *karmana sarira* is the origin of all impulsive forces and the mundane soul is always enveloped by *karmanasarira.* The radiations of psychic energy have to pass through this enveloping field and their interaction (called *adhyavasaya)* proceed further towards the gross physical body. At the border of the subtle body, they are transfonned into urges and impulses, which will later produce feelings and emotions in the physical body or gross body.

II - Gross Body

The above four stages take place in the subtle body only. These subtle activities trigger the gross body producing emotions (endocrine system), sensory actions (nervous system), mental system and finally resulting into actions (muscular system).

4.2.5 GRANTHI TANTRA / ENDOCRINE SYSTEM:

In the fifth stage, our emotions, feeling and passions come into play. The neuro-endocrine system is the seat of feeling, emotions and

passions of man. Impulses and urges which are the forerunners of emotions and passions, not only generate feelings but also command appropriate action that satisfy the need. All the passions, emotions and impelling forces are the actions of the endocrine expressions. The reasoning mind itself has no emotions but many a time the powerful impulses from the endocrine can overwhelm and continue to tinge the supposed reasoning.

The subtle energy fields of aura directly influence the psychic centers in the physical body, which are closely associated with the ductless endocrine glands in the neuro-endocrine system. The resulting type and amount of the hormones secreted represent the urges and impulses that first started in the form of *adhyavasayas.* The hormones in turn affect the emotional level where the learned instincts and records are formed and stored. Relevant records are then processed by the brain at the mental level, which then sends appropriate messages for further mental, vocal and physical actions and reactions.

4.2.6 NADI TANTRA - Nervous system

The endocrine system and emotions then affect our nervous system. Our behaviour involves an elaborate interaction of nervous system (of which the brain is the main constituent) and endocrine system. Philosophers, as well as scientists - including neuroscientists - agree that honnones secreted by endocrines have profound influence on our mental states and behavioral patterns. At this state, sensory actions and motor actions start.

4.2.7 VICARA TANTRA - Mental action

As stated earlier, the mental activities consist of conceiving and perceiving. The messages received from the neuro endocrine system trigger these dual actions.

4.2.8 KRIYA TANTRA - Physical and *lor* Vocal actions

In the final stage, the physical and/or vocal actions take place as per the commands given by the mind. This completes the full sequence of the result of *karma udaya* culminating into *yogic actions.*

4.2.9 THE CYCLE GOES ON

Every yogic kriya will cause vibrations, which will again attract *karma.* Depending on the type and intensity of the ensuing mental, vocal and physical reactions, corresponding changes occur at the emotional level. The emotions in turn affect the hormonal secretions from

the endocrine glands. These changes have a corresponding feedback on the aura and lesya, which eventually leads to the formation of new *karma.* Thus, the cyclic process of karmic fruition and formation continues ceaselessly until the soul consciously exerts its energies to break up the cycle.

5. CAN WE OVERCOME *KARMAFAL:*

5.1 Union of Soul and *Karma:*

The union of soul and *karma* is temporary. The *karma* may remain latent for a time, but it eventually fructifies, manifests, and gives its fruit. The type, duration and intensity of fruition depend upon the emotional state at the moment of bondage. Once the *karma* has delivered its fruit; it loses its potency, and ceases to be *karma* owing to separation from the soul. However, any reaction of the soul to the *karmic* fruit, via physical, mental and emotional activities, further attracts the subtle-most matter, forming brand new *karma.* Hence, the cycle of "cause and effect" continues ceaselessly.

5.2 Supremacy of Soul:

This does not mean that we are helplessly at the mercy of our *karmic* past. This is the essence of the Jain Philosophy. According to it, each soul can, through conscious deliberation of its innate powers, transmute, subside and destroy the obscuring *karmic* contamination. Each contaminated soul has the potential to emancipate itself; however, this potential may be realized only when the soul incarnates itself as a human being. In this respect too, the human form is considered to be at the highest position for further spiritual evolution. In no other incarnated form can the soul exert its innate powers to voluntarily destroy its karma. It is said that even the demigods must eventually pass through the human form in order to seek emancipation.

Dalai Lama has explained the nature of *karma* as per Buddhism - "But there are more powerful and weaker types of *karma.* You create certain *karma,* an action that is powerful enough to have certain consequences. Under those circumstances, it is as if the results are already planned or made. But another new action may occur the energy of which is more powerful than the previous one and it can change it.

5.3 Meditation & Value-added Meditation:

We can break this vicious circle of *karma-udaya* and *karma-*

fala by conscious efforts. We can reverse the whole process by *preksa* mediation and value-added meditation called *anupreksa*

5.4: PreksaMeditation and Anupreksa

In Preksa Meditation, seeing and perceiving refer to careful concentration by our subtle consciousness (soul) via mental insight, and not the external vision. To see and know are the two fundamental characteristics of the soul.

The term meditation is usually defined as contemplation and concentration of thought on a particular subject for a length of time. But, when associated with *preksa* it means *concentration of perception.* The human mind is an instrument for both 'thinking' as well as 'perceiving'.

In *preksa,* perception always means experience devoid of the duality of like and dislike.When the experience is contaminated with pleasure and pain, like and dislike, perception loses its primary position and is replaced by one's reactions to the experience. However, contemplation is not excluded in *Preksa Mediation.* In fact, the second branch of *preksa* system of meditation is *Anupreksa;* which means concentrated and profound contemplation. *Anupreksa* is again two fold:

a) Contemplation and reflection of what has been perceived during the exercise of perception. For example, after profoundly perceiving the physical body, one contemplates and reflects on it transitoriness and the transitoriness of all worldly association

b) Acquisition of desirable virtues and eradication of psychological distortions by vivid visualization, autosuggestions and contemplation. This is the technique of Therapeutic Thinking.

5.5 Therapeutic Thinking:

The attitudes formed at the mental level are the main causes of one's behaviors. In other words, the attitudes are the forerunners of all the behaviors. An attitude itself is a result of the interactions of one's learned and unlearned instincts at the emotional level. And, since all the emotions, passions, and feelings are responsible in the formation of learned instincts, they are the precursors of attitudes, and ultimately the causes for different types of behaviors.

5.6 TRANSMUTATION:

Therapeutic Thinking is one of the most powerful techniques for personal transmutation. By practicing it regularly, we can achieve

self-discipline by transmuting the negative emotions such as hatred, anger, fear, rage, retaliation, etc. into positive ones such as peace, love, ftiendship, kindness, etc. The effort required for eradicating the negative qualities is ethical and not intellectual. Therapeutic Thinking is such an ethical effort. It cures the emotional, mental and physical sicknesses by destroying their root causes. Once the roots of these disorders are removed, there will emerge a state of unprecedented peace and bliss.

6. MY ENCOUNTER WITH MALIGNANCY:

6.2.1 In the year 2000, I was down with "Non-Hodgkin's Lymphoma". It is a kind of bloodrelated cancer which affects one's defence system. I consulted a cancer specialist (Dr. M. B. Agrwal) and also sought emotional and spiritual solace from my guru H H Acharya Shri Mahapragyaji and my brother Prof Muni Shri Mahendra Kumarji. As per their advise, I started fighting with this dreaded disease and cured it by meditation and meditation.

6.2.1 Medical Treatment:

As far as medical treatment was concerned, I had to undergo operation, chemotherapy and radiation.

6.2.2 *Adhyatmic Cikitsa*:

On spiritual level, I regularly practiced *preksa* meditation, *kayotsarga, anupreksa* involving positive thinking and *japa.*

According to Dr. Deepak Chopra, the noted endocrinologist and faith-healer of America, healing is not primarily a physical process but mental one: Healing is alive, compact and holistic. He has treated several cancer patients by his alternative therapy called "Quantum Healing". He believes that "what you see, you become."

Similarly Dr. Dean Ornish, the president of Preventive Medicine Research Institute of America, has given a "Program for Reversing Heart Disease". He has put great stress on the "Stress Management Techniques" which include vegetarian diet, yoga and mediation.

6.3 *JAPA*

I did *japa* of *Navkara Mahamantra, Loguss, Parsvanath Stuti (uvasaggaharam),* etc. H. H.. Acharya shri Mahapragyaji had warned me that these *adhyatmika cikitsa* will work only if I did it with pure heart. So I consciously eradicated all negative emotions such as hatred enmity, revenge, anger, arrogance, deceit, retaliation, etc., and replaced

them by positive emotions such as love ftiendship, forgiveness, humbleness, etc.

6.3.1 All the above treatments worked together. As stated earlier, I firmly believed that one can transmute the nature of sub-type of karma, viz. from *asata, vedaniya* to *sata vedaniya.* Japa, in particular, is a wonderful 'sound therapy'. The sound of mantras, chanted with utmost faith and deep concentration, can act *as adhyatmic* therapy.

7.0 Conclusion:

7.1 Science and Philosophy:

The chasm between Religion / Philosophy and Science is both deep and well established. This is because the scientific mind does not accept anything that cannot be experimentally proved while the religious mind needs no proof for anything laid down in the sacred canonical books. The chasm has, unfortunately, prevented each of them to be benefited by a constructive study of the other side of the chasm.

In India, science has never been able to completely subjugate the religious sensitivities unlike in Western Countries. Mysticism and transcendence remain as important as (sometimes even more) rationality, logic and sensible perceptions. Here, man's personality is not entirely denatured by the scientific objectivity nor has sacredness been taken away by its rationality. In fact, science, inspite of its spectacular achievements, has never been able to attract religious personalities and never had a chance to become a new religion here, as it did in the west. On the other hand, dogmatic beliefs and the very definiteness of the answers given by religious scholars cause scientific-minded modem young men to view them with suspicion and skepticism if not with utter disbelief. It is essential to satisfy the skeptic by scientific methodology and convince them about the superiority of wisdom above superfluous knowledge.

7.2 Neuroscience and *Karma:*

We have already discussed the close relation of neuroscience and the doctrine of *karma.* A further study on this important subject will enlighten the students of both the disciplines. It is imperative for a student of jaina philosophy to study in depth both these subjects in order to evolve ways and means of countering the effect of *karma.*

Science will not, because it cannot, answer all the questions of

great interest to human mind and for human welfare. But science has made tremendous progress during the last hundred years in the field of psychology endocrinology and neuroscience. Neuroscientists have carefully and precisely mapped out centers of pain and pleasure, besides identifying the limbic system in the brain which is the seat of our emotions. Discovery of the centres of anger and aggression by electric stimulation has clarified hitherto mysterious significance of self-generated anger in canonical literature. In short, science can show us methods and methodology for expanding and elucidating the secrets of much ancient wisdom contained in the sacred canons. In other words, the synthesis of the ancient wisdom and modem scientific knowledge can help us to integrate the spiritual insight with the scientific approach for creating a spiritual-cum-scientific personality.

7.3 We will conclude this paper with the quotation from "A brief history of time" by Prof. Stephen Hawking - "Upto now, most scientists have been too occupied with the development of new theories that describe what the universe is to ask the question why. On the other hand, the people whose business it is to ask why, the philosophers, have not been able to keep up with the advance of scientific theories. In the eighteenth century, philosophers considered the whole of human knowledge, including science, to be their field and discussed questions such as: did the universe have a beginning? However, in he nineteenth and twentieth centuries, science became too technical and mathematical for the philosophers, or anyone else except a few specialist. Philosophers reduced the scope of their inquiries so much that Wittgenstein, the most famous philosopher of this century, said "The sole remaining task for philosophy is the analysis of language." What a comedown from the great tradition of philosophy from Aristotle to Kant!

"However, if we do discover a complete theory, it should in time be understandable in broad principle by everyone, not just a few scientists. Then we shall all, philosophers, scientists, and just ordinary people, be able to take part in the discussion of the question of why it is that we and the universe exist. If we find the answer to that, it would be the ultimate triumph of human reason for then we would know the mind of God."

A Scientific analysis of the Jaina doctrine of Karma

By - Dr. (Col.) D.S. Baya *'Sreyas'*

The Place Of Jaina Karma Theory In The Philosophical Field

Jainism has contributed many unique features to the Indian religious philosophical field. Just like the theories. of Non-violence *(Ahimsa)* and Non-absolutism *(Anekantavada),* propounded by the Lords *Tirthankaras, Karmavada,* which is variously referred to as *Karma-siddhanta,* Karma-theory' and the 'Doctrine Of Karma', is yet another major contributirn of Jaina philosophy to the field of Indian religious philosophies.

However, to put the things in the right perspective, I must mention that although, generally, it is believed that Jainism is a philosophy based on the Karma Theory, this premise is not wholly correct. To say that Jainism is based on the theory of karma only is a misrepresentation of facts. According to *Acarya'Siddhasena Divakara* it is a philosophy based on five theories, namely *Kalavada* (Theory of time), *Svabhavavada* (Theory of nature), *Niyativada* (Theory of destiny), *Purvalkrtavada* (Theory .of earlier action) and *Purusarthavada* (Theory of endeavour). However, the reason for' this misplaced belief is that the literature related to Karma Theory has, over periods of time, occupied so much space that the other four theories, taken together, have been unable to get even a hundredth of its coverage.

Karmavada In The Indian Context :

In the context of Indian religious philosophies the Doctrine of Karma or *Karmavada* is a reality, a fact of life. All of them have, in one way or the other, advocated the fact that one reaps what one sows. However, there are two distinct currents visible amongst the believers of this theory of results being in accordance with one's actions. One school of thought, which can be termed as divinist, believes that it is the almighty God who awards the reward or punishment for one's good or bad actions. The only flaw with this belief, to my mind, is that in the first

place an individual's actions are guided by the divine will and in the result the due retribution for his involuntary actions is also dispensed by the divinity. This situation can be compared with the one in which a headmaster sends a student on an errand and then punishes him for bunking the class. The other school of thought can be termed as naturalist and believes in natural retribution of one's actions without any divine intervention. This school of thought is, naturally, more scientific in its approach and is based on the scientific premise of action and reaction stated in the third Newtonian law that says, "To every action there is an equal and opposite reaction". The Jaina Doctrine of Karma is closer to the second school of thought and believes in natural retribution rather than divine retribution. *Bhagvan Buddha* also believed in the results being commensurate to one's good or bad actions.

Soul And Karma :

Soul or spirit is the basis of entire Jaina philosophical development. Jainism believes that the soul is an independent entity re,sponsible for its actions, performed trough the medium of the body that envelops it as long as it stays in its worldly corporeal existence, and their inevitable retribution - good or bad, pleasurable or painful - in accordance with the. quality of its actions. The soul is abstract, formless and manifests itself through its embodiment. Further, it believes that such an independent soul is forced to'suffer or enjoy . the sufferings or enjoyments that come its way because it is kept in bondage by the karma matter associated with it initially as well as by virtue of its past actions. According to the Jaina thought the reason for this bondage and worldly wandering is the karma-matter that associates with it as a result of the actions of its bodily envelopment. It is the karma that is responsible for the worldly transmigration and repeated births and death in various classes like heavenly gods, hellish denizens, human beings and sub-human creatures. In this connection it will be worth our while to mention the fundamental tenets, and the inferences there from, of the Doctrine of karma'. They are as follows:-

a. Every action is connected to its result. The result of every action invariably follows. It follows that the personality of a person is a result of the aggregate of his past conduct and that his present conduct

shapes his future personality.

b. The result of the action is experienced by the doer of that action only. It follows that a person, or more generally a creature, experiences the natural retribution of his own actions and that if it cannot do so in its present life, it does so in the lives hereafter. This is the reason for the cycle of rebirths and worldly transmigration in the worldly existence of the creatures.

c. This chain of action and its natural retribution has been going on from the beginningless time. It follows that there is something that leaves the present body and takes rebirth in the other body. This something is the . soul' .

Karma: A Scientific Analysis

Karama is a much talked-about word that has universal circulation. It has its application in all walks of life in all parts of the world. Not only Indian religious . philosophies but also the western ones have given importance to karma by referring to it as good deeds and bad deeds. However, most philosophies do not go be yond action as its meamng. It is the Jaina philosophy"that has given it a much wider meaning.. In Jaina parlance the word *'karma* 'has two connotations - 1. The action and 2. The karma-matter.

Now, I present a scientific analysis of the nature of karma and the way it gets associated with the soul and affects its destiny. According to Jaina thought, karma-matter or *'Karma pudgala-vargana'* is the finest variety of matter that has the capacity of invading the soul-space and associating with the soul. When we compare it with the existing scientific knowledge about matter and its wave and energy transformations, we can see that karma matter may be in the form of some kind of electromagnetic waves that vibrate at different frequencies.

The fact that our thoughts and actions are affected by surrounding electromagnetic field is a foregone conclusion.People living in' the vicinity of high tension (HT) electric transmission lines are known to suffer some neurological and psychosomatic disorders. It is because the strong electromagnetic field in their vicinity adversely affects their normal functioning and throws them out of tune. Similarly, the electromagnetic field created by the vibrations of karma-matter casts its influence on our neurological system and endocrine glands that are regulated by

body-electricity and force us to behave in a particular manner.

The karmic (electromagnetic) waves are grouped in eight wavebands, termed as *a asta-karma,* just like normal electromagnetic waves are classified as Low-frequency band, High-frequency (HF) band, Very High Frequency (VHF) band, Ultra High-frequency (UHF) band, microwave band, etc. Each of these types gets attracted towards the soul when it performs any physical mental or vocal activity that itself causes it to vibrate at specific frequencies. Just like a radio receiver can select specific frequency-band when it is tuned to that frequency, the soul vibrating at a particular frequency also receives karmic waves of matching frequency and that is how some actions attract and bind knowledge obscuring karma-matter while some others bind other types.

Then comes the question of destiny and karmic retribution. Like a pre-set television set, set to receive different channels at different times, the karmic associations also have a built in clock that decides the dormancy *(abadha-kala)* and the time of fruition *(udaya)* of a particular type of karmic bondage. When the time of fruition of a particular type of *karma* comes, the karma-body *(Karman Sarla)* and the soul associated with it are forced. to vibrate at a specific frequency. This vibration manifests itself in the form of tendencies *(Bhava)* that forces the soul (in its corporeal state through its body, mind and speech) to act in a particular manner and generates a resonance in the environment which attracts only those types of people and objects that resonate with it, the others remain unaffected. This explains as to why out of a plethora of people and objects we rhyme and click with only a few. Such association with specific people and objects result in our pleasurable or painful experiences in accordance with our karmic adjunct. This is our karmic retribution and this is our destiny.

What Is The Jaina Doctrine Of Karma?

In a few words, the Jaina Doctrine of Karma may be summed up as a theory that lays down that a person, or a living being in general, has to reap the fruits of his actions or accept the inevitable retribution of his actions - good or bad. 'There is no escape from the results of own actions', it says. Good and pious actions yield pleasurable fruition and the bad and sinful actions yield the painful ones.

Jaina Karma Theory is unique in its evolution to mathematical precision. This paper, with its limited scope, hardly brings out this perfection of the karma Theory as seen and propounded by the Lords *Tirthahkaras* and propagated by the masters and preceptors down the ages. 'Karma' is important, from the mundane point of view as it is responsible for all mundane pleasures and pains of the living beings and from the spiritual point of view, because it is a constant companion to all worldly souls and unless this association between the karma and the soul is completely and irresidually ended *Mok.sa* (liberation: the ultimate goal) remains unattainable.

In the Jaina parlance, the tern *'Karma'* has two meanings - 1. Any mental, verbal or physical action and 2. The karma-matter (matter of the *Karma pudgala vargana)* that comes in contact with the soul and sticks to it as a result of this action. This needs certain getting used to and this paper endeavours to clarify this aspect.

The Importance Of Karma Theory :

Here, I would like to cite a couplet from the famous story of *Samaraditya* by the . eighth century AD Jaina master, *Acarya Haribhadrasurl.* It reads as follows

"Savvam puvvakayanam kammlanam pavae phalavivagam
A varahesu guhesu ya nimittamettam paro hoi 1/

It supports the inherent theory of the Doctrine of Kanna, when it says that 'everyone receives the due and"natural retribution of one's own actions; in favour or disfavour, or in his pleasurable and painful experiences, the other is just a means, an intermediary agency and not the substantive cause'. Pleasure and pain are, thus, not given by someone else but are obtained as a result of one's own actions done at some point of time in the past. For everything that we experience there are substan tive causes and there are intermediary agencies. Generally, we don't distinguish between the two and attribute the actions of the intermediary agency to its intention. That is where we go wrong. When we hold an intermediary responsible for our pleasure or pain that he becomes an agent for, we develop a . feeling of liking or dislike for him. We reward him for none of his merit or we punish him for none of his fault. The merit or fault is always our own.

This is one truth that truly states the essence of 'Karma Theory',

Which if properly understood and appreciated may save us from many a trouble and misery. Most of the times we make the mistake of taking the agents as the principals and consider them as our friends and foes when they become the means of our pleasurable and painful experiences. If we develop the right perspective and take the agents as such, we can lead a truly happy temporal life as well as achieve spiritual benefits at the same time.

Doctrine Of Karma As The Basis Of Harmony And Contentment :

Discontent is an outcome of a feeling that we are not getting our due. This feeling strengthens when we hold someone else as the dispenser of pleasurable goods or that of torturous punish ments. The feeling is reinforced every time we are deprived of some goodies and think that we haven't got our due or when we go through an unpleasant experience and feel that we have been unduly punished for no fault of ours. This feeling persists as long as we continue to think that someone else is responsible for our pleasure or pain.

Again, when something untoward happens to us and we consider someone responsible for it, a feeling of animosity towards that person cannot remain without creeping in, in spite of our best efforts to the contrary. This feeling of animosity is contagious and transfers itself to the other person as well. It generates a vicious cycle "of hatred and enmity that can only end in more misery. On the other side when we .have a pleasurable experience, we look at the person or agency responsible for giving us that pleasure as our benefactor and develop affection and attachment for it. This attacment gives rise to new expectations to which only an exceptional few may rise. When the expectaions are not fulfilled the attachment changes to aversion and we get into another vicious cycle of disaffection

Karmaviada also helps us in overcoming *pramada* or negligence or sloth, which is one of the most potent causes of worldly lack of prosperity and that of karmic influx. Negligence keeps us from doing our duty, either temporal or spiritual, and results in worldly penury and spiritual banruptcy.

Karmavada also keeps us from many a sinful deed when we think in tern:s of their dreadful retributions and urges us to perform pious .ones thinking of the pleasures that will accrue thereby. It makes

us sin-fearing and altruistic. Will not a world inhabited by sinfearing and altruist human beings worthier place to live in than it is today?

A true appreciation of the Doctrne of Karma changes all this and gives us a new perspective with which to rationalise our thoughts. When we start thinking that none else but we ourselves are responsible for all our happiness and miseries, w,e have a totally changed chain of thoughts. Our current of thoughts shifts from blaming others to blaming ourselves. We become more contented and start thinking in terms of doing something that would enhance our pleasures and reduce our sufferings in future. It marks the beginning of a truly happy and contented life that also promises a more fulfilling and pious future. We become happy with ourselves and the world at large and the future stops looking bleak and barren. The Doctrine of Karma is, therefore, a formula for a happy and contented practical life.

The Spiritual Benefits Of The Doctrine Of Karma:

Spiritual benefits of a soul are directly linked with its capacity of looking at things in the right perspective, its victory over passions, overcoming attachment and aversion and development of a truly detached disposition. Attachment *(raga)* and aversion *(dve,sa)* are the two generals of the army of delusion *(moha)* that constantly attack the worldly living beings. Succumbing to delusion and attendant attachment and aversion gives rise to passions like anger, pride, deceit and greed, which are, in turn, responsible for all worldly misery and karmic bondage. A proper understanding and appreciation of 'Karma Theory' helps us in understanding the mechanism of attachment and aversion and can become the means of breaking the bondage of delusion - *'Mohaniya Kanna'* with its attendant attachment, aversion and passions - and pave the way for not only a harmonious mundane life but also for the ultimate goal of liberation through consequent victory over the delusion that causes attachment and aversion.

A little deliberation on how a lack of proper perspective results in attachment and aversion and how a proper understanding of the basic principles of karma-theory helps us in overcoming them will not be out of place. Lack of perspective distorts our thought-process and makes us think that the person detrimental to our worldly interests is responsible for our misery and we have a feeling of aversion (dvesa) towards him

and a feeling of attachment for the one whom we consider helpful to our mundane interests. A proper understanding of the underlying principle of karmic association and retribution puts our thoughts on the right track and we develop a feeling of neutrality or so essential for spiritual advancement.This ensures lack of attachment and aversion-and consequent destruction of *moha,* which opens the sim-sim of enlightenment and emancipation.

Conclusion :

I wish to conclude my presentation by saying that a correct appreciation of the basic principles of the 'Doctrine of Karma' puts us on the high-way to a truly gentle life in which there are no hatreds and no cravings; in which there are no attachments and no aversions; in which there are no expectations and no painful disappointments and disenchantment; in which there are no enemies and no friends.

us
an

an
W
for
the
ou
do
fer
life
hap
ing
for

Th

of l
ove
tach
gen
livi
ave
are,
prop
und
com
with
for r
liber
tach

in att
princ
of pl
think
for o

आचार्य श्री महाप्रज्ञ को लाडनूं में संगोष्ठी प्रशस्ति पत्र भेंट करते डॉ. नारायणलाल कछारा।

जैन विश्व भारती, लाडनूं में स्थापित आचार्य कनकनंदी साहित्य कक्ष।

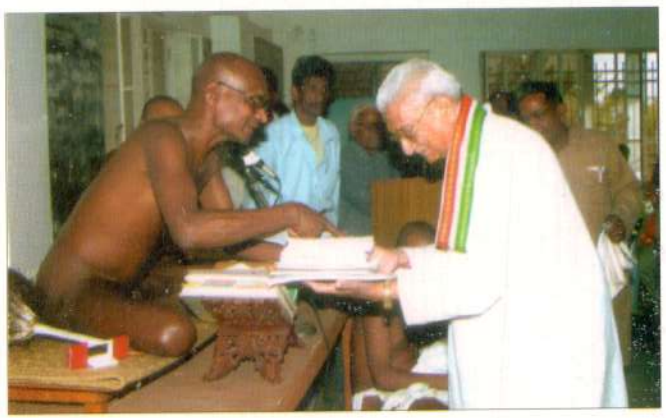

श्री अशोक सिंघल अंतर्राष्ट्रीय अध्यक्ष, विश्व हिन्दु परिषद, आचार्य श्री कनकनंदी से आशीर्वाद प्राप्त करते हुए।